शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जनवरी : १९६५ ☆ वर्ष २० वाँ, पौष, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : ८

सर्व कार्यों में प्रथम कार्य आत्मार्थ है

(पद)

चेतनजी स्वस्वभाव सम्हारो, पर परभाव सबै परिहारौ;
है निज ज्ञायक धर्म तुम्हारो, असद्भूत पर जानन हारौ॥

दीपकवत् विकृति ह्वै नाहीं, अन्य ज्ञेयसौं ज्यों जग मांहि,
पर का कर्त्ता बन अनादितैं, भ्रम्यो आप चतुर्गति मांहि॥

नाना कष्ट सहे विधिवशतैं, कबहुँ न हूओ ज्ञान उजारौ,
त्रिभुवनपति हो अंतर्यामी, भये भिखारी निगै निहारौ॥

जिनमारग पाओ अब भविजन, शुद्धस्वभाव सदा उर धारौ,
चेतनजी स्वस्वभाव सम्हारौ, पर परभाव सबै परिहारौ॥

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२३६]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

देशव्रतोद्योतनम् (दूसरी आवृत्ति सचित्र)

श्री पद्मनदी पंचविंशतिका के देशव्रतोद्यतन नामक अधिकार पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, हिन्दी अनु० श्री बंशीधरजी शास्त्र एम०ए०, प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, ५५ नलिनी सेठ रोड, कलकत्ता, पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ०.५०, पोस्टेज २५ पैसे, श्रावक को तत्त्वज्ञान सहित षट्कर्मों को प्रतिदिन करने के विषय में, आप इस पुस्तिका को अवश्य पढ़ें इसमें उत्तम भक्तिमय प्रसंग के पाँच चित्र हैं। जो देखते ही बनता है।

(१) जिन प्रतिमा अंकन्यास विधि, (२) दक्षिण तीर्थ श्री बाहुबली चरणाभिषेक, (३) पोन्नूर क्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्य के चरणों की पूजा, आदि।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सूचना

गतांक नंबर ७ में समयसार कलश टीका तथा प्रवचनसार १५ दिन बाद तैयार होने के लिये सूचना दी थी लेकिन बाईंडिंग में देर होने के कारण करीब एक माह और लग जावेगा।

—प्रकाशक

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जनवरी : १९६५ ☆ वर्ष २० वाँ, पौष, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : ८

तत्त्वचर्चा

(बांकानेर नगर में चैत्र शुक्ला ८ से १३ तक की रात्रिचर्चा से)

प्रश्न—एक समय में राग और वीतरागता—दोनों भाव एक साथ होते हैं ?

उत्तर—हाँ, साधक को अंशतः राग और अंशतः वीतरागता—ऐसे दोनों भाव एकसाथ होते हैं। जैसे—सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ अंशतः शुद्धता प्रगट हुई, और अभी साधक को अशुद्धता भी है; इसप्रकार अंशतः शुद्धता और अंशतः अशुद्धता—ऐसे दोनों भाव साधकदशा में एकसाथ होते हैं। किंतु उनमें जो शुद्धता है, वह संवर-निर्जरा का कारण है और जो अशुद्धता है, वह आस्रव-बंध का कारण है।—इसप्रकार साधक को आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा—ऐसे चारों प्रकार एक पर्याय में एकसाथ होते हैं।

अहो, यह तो अध्यात्मतत्त्व का अंतरंग विषय है। भारतवर्ष की यह मूल विद्या है।

प्रश्न—जब राग पर लक्ष हो, तब तो ज्ञानी को बहिर्मुखता ही है न ?

उत्तर—भले ही उपयोग का लक्ष राग पर हो, किंतु उस समय भी साधक को अंतर में रागरहित शुद्धपरिणति तो वर्तती ही है। उपयोग भले ही बाह्य में हो, उससे कहीं जो शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, उसका अभाव नहीं होता। जितनी शुद्धता है, उतनी अंतर्मुख परिणति वर्तती है।

प्रश्न—जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही है, उसे क्या करना चाहिये ?

उत्तर—राग और चैतन्य को भिन्न जानकर चैतन्यस्वभाव में अंतर्मुख होना चाहिये। प्रथम

अंतर में ज्ञान से निर्णय करे, पश्चात् अंतर्मुख उपयोग द्वारा निर्विकल्प अनुभव होने से सम्यग्दर्शन होता है।

परंतु पहले उसकी योग्यता के लिये भी बड़ी तैयारी होना चाहिये। देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं, उन्हें जानकर उनकी विनय-बहुमान हो और उनके कहे हुए तत्त्व को जाने, पश्चात् अंतर्मुख होने से सम्यक्त्व होता है।

प्रश्न—आत्मा ने यह हाथ ऊपर उठाया—ऐसा तो दिखायी देता है न ?

उत्तर—नहीं; ऐसा दिखायी नहीं देता, किंतु अपनी मिथ्या कल्पना से ऐसा मानता है कि आत्मा ने हाथ ऊपर उठाया। आत्मा तो कहीं उसे आँख से दिखायी नहीं देता, शरीर को देखता है; शरीर का हाथ ऊँचा हुआ—ऐसा दिखायी देता है, किंतु आत्मा ने उसे ऊँचा किया, ऐसा तो कहीं दिखायी नहीं देता। एक आत्मा अपने से भिन्न अन्य पदार्थों का कुछ भी करे—यह बात मिथ्या है; उस मिथ्यात्व में विपरीत अभिप्राय का महान पाप है, उसमें चैतन्य की विराधना है; वह महान दोष अज्ञानियों को समझ में नहीं आता। पाप परिणाम करे और पैसे की प्राप्ति हो, वहाँ कोई ऐसा माने कि पाप के कारण पैसा मिला, तो वह बात मिथ्या है। उसीप्रकार हाथ ऊपर उठने पर आत्मा ने उसे उठाया—यह मानना भी मिथ्या है।

प्रश्न—आत्मा कहाँ स्थित है ?

उत्तर—आत्मा, आत्मा में स्थित है। आत्मा, शरीर में स्थित नहीं है। शरीर और आत्मा भले ही एक स्थान में हों, किंतु आत्मा की सत्ता शरीर से भिन्न वस्तु है। आत्मा तो चैतन्यप्रकाशी है।

आत्मा स्वयं ही है; किंतु अज्ञान के कारण स्वयं अपनी सत्ता को ही भूल गया, इसलिये आत्मा तो मानों अदृश्य हो गया हो—ऐसा लगता है। यदि अंतर्मंथन करे तो अपने में ही अपना पता लग सकता है।

प्रश्न—भेदज्ञान करने के लिये सीधा और सरल उपाय क्या है ?

उत्तर—भिन्न लक्षण जानकर भिन्न मानना।

प्रश्न—वह कैसे होता है ?

उत्तर—अंतर में विचार करना चाहिये कि—जो ज्ञातातत्त्व है, सो मैं हूँ और विकल्प की वृत्ति का उत्थान, वह मेरे चैतन्य से भिन्न है।

प्रश्न—मिथ्यात्व को हटाने के लिये शुभभाव तथा क्रिया की आवश्यकता मालूम नहीं होती ?

उत्तर—भाई, शुभभाव से या शरीर की क्रिया से मिथ्यात्व दूर होता है—ऐसा जो माने, उसके तो मिथ्यात्व का पोषण होता है। शुभराग से मुझे धर्म होगा और शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ—ऐसा माने तो उसमें मिथ्यात्व का पोषण होता है।

प्रश्न—तो फिर सम्यक्त्व का मार्ग क्या ?

उत्तर—इस राग से पार चैतन्य को जानना, वह सम्यक्त्व का मार्ग है। उसके बिना शुभभाव तो अनंत बार किये। भाई, प्रतीति का घर गहराई में है; उसके लिये सत्समागम का खूब अभ्यास होना चाहिये, बड़ी पात्रता और जिज्ञासा होना चाहिये।

प्रश्न—आत्मा को जानने से क्या होता है ?

उत्तर—अंतर में उपयोग लगाकर आत्मा को जानने से अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है। ऐसा अपूर्व स्वाद आता है कि पूर्व काल में कभी न आया हो। परंतु यह कहीं बातें करने से नहीं होता; इसके लिये तो अंतर का अपूर्व पुरुषार्थ चाहिये।

प्रश्न—खूब पठन-श्रवण करने पर भी अनुभव क्यों नहीं होता ?

उत्तर—क्योंकि अंतर में वैसा यथार्थ कारण नहीं देता; यदि यथार्थ कारण दे तो कार्य अवश्य होता ही है। अंतरंग तीव्र रुचिपूर्वक विचारणा जागृत हो और स्वभाव की ओर का प्रयत्न करे तो आत्मा का कार्य न हो, ऐसा नहीं होता। प्रयत्न करे राग का और कार्य चाहे स्वभाव का, तो वह कहाँ से आयेगा ? स्वभाव की ओर का प्रयत्न करे तो स्वभाव का कार्य (सम्यग्दर्शन) अवश्य प्रगट होगा। उसके लिये अंतर का गहरा प्रयत्न होना चाहिये।

प्रश्न—संसार का अर्थ क्या है ?

उत्तर—अपने शुद्ध स्वरूप से संसरित होना अर्थात् च्युत होकर अशुद्धरूप परिणमित होना, सो संसार है। यानी राग-द्वेष-अज्ञानादि मलिन भाव, सो संसार है।

प्रश्न—संसार कहाँ है ?

उत्तर—जीव का मोक्ष और संसार दोनों जीव में ही हैं; जीव से बाहर नहीं हैं। जीव की अशुद्धता ही जीव का संसार है, बाह्य संयोग में जीव का संसार नहीं है। उसीप्रकार जीव की शुद्धतारूप मोक्ष भी जीव में ही है और उस मोक्ष का उपाय भी जीव में ही है।

प्रश्न—संसार कौन-सा भाव है ?

उत्तर—संसार औदयिकभाव है।

प्रश्न—धर्म का क्या अर्थ है ?

उत्तर—धर्म अर्थात् आत्मा की शुद्धता। आत्मा क्या वस्तु है, उसके स्वभाव की प्रतीति करके उसमें एकाग्रता द्वारा जो राग-द्वेष रहित शुद्धता प्रगट हो, वह धर्म है।

प्रश्न—सामायिक की आवश्यकता किसलिये है ?

उत्तर—एक समय की सामायिक आत्मा में मुक्ति की भनक उत्पन्न करती है। सामायिक पाँचवें गुणस्थान में होती है और उससे पूर्व चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व के बिना सच्ची सामायिक नहीं होती। देह की क्रिया अथवा शुभराग को सामायिक माने या उससे धर्म माने तो उसे सामायिक की खबर नहीं है। स्वरूप की प्रतीति करके उसमें एकाग्र रहने से राग-द्वेष रहित समभाव और अतीन्द्रिय आनंद का वेदन प्रगट हो, उसका नाम सामायिक है।

प्रश्न—ऐसी सामायिक न हो, तब तक तो शुभराग करना चाहिये न ?

उत्तर—भाई, राग तो अनादिकाल से करता ही आया है ! यह तो जिसे धर्म करना हो, उसके लिये बात है। धर्म के लिये सत् विचारों का अंतर में संग्रह करना होगा। प्रथम सम्यक् भूमिका तो निश्चित करो। ऐसा मनुष्य भव प्राप्त हुआ, उसमें जन्म-मरण के फेरे मिटाने का अपूर्व उपाय क्या है, वह समझना चाहिये। समझने के प्रयत्न की भूमिका में भी उच्च प्रकार का शुभराग तो होता है। किंतु उस राग से चैतन्य की भिन्नता जब तक भासित न हो, तब तक धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। शुभराग की बात का तो अनादि से श्रवण और आदर करता आया है, किंतु यह चिदानंदतत्त्व राग से पार है—उसकी यह अपूर्व बात है। यदि पात्र होकर जिज्ञासा करे तो समझ में आ सकती है। जिसे प्यास लगी हो, जिसे आत्मा की भूख जागृत हुई हो, उसे यह बात पच सकती है।

प्रश्न—जिसे भेदज्ञान न हुआ हो, किंतु जो प्रयत्न कररहा हो, उस जीव के परिणाम तथा उसका रहन-सहन कैसा होगा ?

उत्तर—उसके परिणाम में सत्समागम और सद्विचारों का मंथन चलता है। आत्मा क्या है, सत् क्या है, ज्ञानी कैसे होते हैं—ऐसे तत्त्व के सद्विचार होते हैं; परिणाम में पर की प्रीति का रस अति मंद हो जाता है; सच्चे देव-गुरु का बहुमान जागृत होता है, कुदेव-कुगुरु के ओर की वृत्ति छूट जाती है। स्वसन्मुखता करने योग्य है, ऐसा निर्णय करके स्वोन्मुखता का बारंबार उद्यम करता है। उसके तीव्र अनीति के या मांसाहारादि के कलुष परिणाम छूट ही जाते हैं और अंतर में

यथार्थ तत्त्व का बारंबार मंथन करता रहता है—ऐसा जीव अंतरोन्मुखता के अभ्यास द्वारा भेदज्ञान प्रगट करता है।

प्रश्न—यह आत्मा सर्वज्ञ भगवान समान है—सो कैसे ?

उत्तर—जैसे सर्वज्ञ भगवान हैं, वैसा ही मेरा आत्मा है—ऐसा जहाँ निर्णय करना चाहता है, वहाँ अपनी पर्याय में तो सर्वज्ञता है नहीं; सर्वज्ञता तो शक्ति स्वभाव में है; इसलिये पर्याय की ओर देखने से सर्वज्ञ समान आत्मा प्रतीति में नहीं आता, किंतु स्वभावोन्मुख होने पर ही सर्वज्ञसमान आत्मा की प्रतीति होती है और इसप्रकार स्वोन्मुख हो, तभी सर्वज्ञ की सच्ची प्रतीति होती है।

प्रश्न—आत्मा किसे कहा जाये ?

उत्तर—जिसे आत्मा संबंधी शंका उठती है, वह स्वयं आत्मा ही है। शंका उठती है, वह आत्मा के अस्तित्व में उठती है। आत्मा न हो तो शंका कौन करे ? इसलिये जो शंका करता है तथा जो ज्ञाता तत्त्व है, वही आत्मा है। शंका कहीं इस जड़ शरीर में नहीं है, शंका करनेवाला जो तत्त्व है, वह चैतन्य है, वही आत्मा है।

प्रश्न—वर्तमान में मोक्ष होता है ?

उत्तर—महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में भी जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस क्षेत्र में आजकल पुरुषार्थ की कमी के कारण मोक्ष भले न हो, किंतु अंतर में आत्मा के सम्यक् अनुभव से ऐसा निर्णय हो सकता है कि अब अल्पकाल में यह आत्मा सम्पूर्ण मुक्त होगा। सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्ष का मार्ग इस काल हो सकता है, उसके लिये अंतर में खूब श्रवण-मंथन और स्वभाव की ओर का अभ्यास होना चाहिये।

प्रश्न—अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक्त्व किस गति में होता है ?

उत्तर—चारों गतियों में हो सकता है। उनमें प्रथम उपशम-सम्यक्त्व होता है। सातवें नरक में भी सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ मनुष्यगति में ही होता है।

प्रश्न—आध्यात्मिक ज्ञान किसे कहा जाता है ?

उत्तर—आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान होता है, उसे आध्यात्मिक ज्ञान कहते हैं। उसके संस्कार दूसरे भव में भी आत्मा के साथ ही रहते हैं।

प्रश्न—निर्विकल्पदशा के समय जो अंतर्मुख ज्ञानोपयोग है, वह ज्ञान का ज्ञेय है ज्ञान है या आनंद ?

उत्तर—उस अंतर्मुख उपयोग का ज्ञेय पूर्ण आत्मा है; ज्ञान और आनंद सब उसमें अभेद आ जाते हैं; उस ज्ञान में आनंद का वेदन व्यक्त है।

प्रश्न—आप पूर्व जन्म को मानते हैं ? पूर्व जन्म का अनुभव किसप्रकार किया जा सकता है ?

उत्तर—हाँ, आत्मा अनादि-अनंत है, इसलिये इससे पूर्व कहीं दूसरे भव में उसका अस्तित्व था। आत्मा कहाँ था—वह भले ही कदाचित् न जाने किंतु इतना तो निर्णय होता ही है कि—इस भव से पूर्व कहीं आत्मा का अस्तित्व था। ऐसा कोई नियम नहीं है कि—जातिस्मरणज्ञान हो, तभी आत्मज्ञान हो। किसी को जातिस्मरणज्ञान न हो, तथापि आत्मज्ञान होता है; किसी को जातिस्मरणज्ञान हो, तथापि आत्मज्ञान नहीं भी होता;—किसी को दोनों एकसाथ वर्तते हैं।

★

ज्ञानी के अंतर में वैराग्य के झरने कहते हैं; उनकी परिणति में उपशमरस छा गया है; उनका आत्मा संयम भावना में झूलता है। अहा, उन उपशमरस में तथा संयम भाव में झूलते हुए साधक संतों की दशा अलौकिक है।

केवली भगवान सदृश

ज्ञान और आनंद का प्रकार

[प्रवचनसार के ज्ञानमहिमा से भरपूर सुंदर प्रवचनों से]

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रवचनसार में अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय आनंद का जो महिमावान वर्णन किया है, उस पर विवेचन करते हुए पूज्य स्वामीजी ने अत्यंत प्रमोद एवं बहुमानपूर्वक कहा कि—वाह! कुन्दकुन्द तो कुन्दकुन्द ही हैं। उन्होंने स्वावलंबी ज्ञान का अद्‌भुत मार्ग बतलाया है। ऐसे ज्ञानानंदस्वभाव की उपादेयता निश्चित करने से सम्यक्त्व होता है और सम्यक्त्व होने से केवली भगवान सदृश ज्ञान तथा आनंद का सेम्पल; उसी जाति का आंशिक अनुभव आने लगता है।

चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों से पार है।

इन्द्रियाँ जड़-अचेतन हैं, उनमें ज्ञानस्वभाव नहीं है।

जिनमें ज्ञान नहीं है, ऐसी जड़ इन्द्रियाँ आत्मा को ज्ञान का साधन कैसे हो सकती हैं? इन्द्रियों में ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा को अतीन्द्रियज्ञान का साधन हों।

जो इन्द्रियों को ज्ञान का साधन मानता है, उसकी वृत्ति इन्द्रियों की ओर ही रहती है; अतीन्द्रिय स्वभाव की ओर उसकी वृत्ति नहीं जाती और पर से निरपेक्ष होकर स्वभाव को ही साधन न बनाये, तब तक अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट नहीं होता और अतीन्द्रियज्ञान के बिना अतीन्द्रियसुख नहीं होता।

भाई, तेरे अतीन्द्रिय चिदानंदस्वभाव में इन्द्रियों का प्रवेश नहीं है; इन्द्रियों का अवलंबन लेकर वर्तता हुआ ज्ञान भी चैतन्यस्वभाव में प्रविष्ट नहीं हो सकता। अरे, अतीन्द्रियज्ञान के निकट इन्द्रियज्ञान तो तुच्छ है; उसके बाह्य ज्ञातृत्व का अभिमान कैसा?

इन्द्रियादि पर की अपेक्षा रखे बिना मात्र निजात्म-स्वभाव का अवलंबन लेकर वर्ते, वह प्रत्यक्ष ज्ञान एकांत सुख से परिपूर्ण है; वह निराकुल है; उसमें पराश्रय की आकुलता नहीं है।—ऐसा स्वाश्रयी प्रत्यक्ष ज्ञान ही सुख का कारण होने से उपादेय है, प्रशंसनीय है। अरे, ऐसे ज्ञान और आनंद की भावना भाने से भी शरीर की वेदनाएँ भूल जाती हैं और परिणाम जगत से उदास होकर चैतन्य की ओर ढलते हैं। पूर्ण साध्य का स्वीकार होने से साधकभाव प्रारम्भ होता है।

अहो, कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वावलंबी ज्ञान का अद्भुत मार्ग बतलाया है। वाह! कुन्दकुन्द तो कुन्दकुन्द ही हैं!

और अमृतचंद्राचार्य ने अमृत के सांथिया पूरे हैं।

मार्ग तो अंतर में ऐसा है; उसमें इन्द्रियज्ञान का अवलंबन नहीं है; वहाँ बाह्य अवलंबन की तो बात ही कहाँ रही? भाई, तेरे सुख का साधन तो तेरे स्वभाव का अवलंबन लेनेवाला ज्ञान ही है; अंतर्मुख अतीन्द्रियज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई सुख का साधन नहीं है। अरे! जहाँ इन्द्रियाधीन प्रवर्तमान ज्ञान ही सुख का साधन नहीं है, वहाँ राग या उपदेशादि परद्रव्य सुख का कारण कैसे होंगे? जिसमें सुख या ज्ञान है ही नहीं, वह सुख का या ज्ञान का साधन कैसे हो सकता है? अतीन्द्रियज्ञान और सुख से परिपूर्ण आत्मस्वभाव स्वयमेव अपने ज्ञान तथा सुख का साधन है और वही महान उपादेय है।

ज्ञान के अंश को अंतरोन्मुख करने से पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है; वह प्रतीति अपने साथ ही अतीतिन्द्रय आनंद का वेदन लाती है।

अरे, किंतु इस बात को अंतर में उतारने के लिये अति निश्चल चित्त होना चाहिए। पर्याय में पूर्ण नहीं है, तथापि स्वभाव को परिपूर्ण प्रतीति में लेना, सो अपूर्व अंतर्मुख उद्यम है। ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, संतों ने अतीन्द्रिय आनंद की कथा सुनायी; उसे सुनकर मुमुक्षु को उसका उल्लास आता है।—ऐसे स्वभाव में जो उतरा, वह जगत की अनुकूलता या प्रतिकूलता में नहीं अटकता।

अरे! जहाँ एक पल भी पल्योपम जितनी लगती है, ऐसी घोर प्रतिकूलता के बीच नरक में करोड़ों, अरबों असंख्यात वर्ष तक जीव रहा है; वहाँ भी कोई जीव पूर्व संस्कारों को ताजा करके, चैतन्य की गहराई में उतरकर अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद चख लेता है। भाई, पूर्ण साध्य ऐसा केवलज्ञान—जो कि परम अतीन्द्रिय आनंदसहित है—उसे तू बहुमानपूर्वक निर्णय में तो ले। उस पूर्ण साध्य को प्रतीति में लेने से तुझे जड़ इन्द्रियों की, राग की और इन्द्रियों की ओर के ज्ञान की महिमा उड़ जायेगी तथा आत्माधीनरूप से मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

भाई, आत्मा का मार्ग आत्मा के निकट ही है, तेरा मार्ग अंतर में ही है; बाह्य में नहीं। अहो, आत्मा का अतीन्द्रिय आनंद तथा अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है—ऐसे निर्णय में सम्यक्त्व होता है और अतीन्द्रियज्ञान-आनंद का अंश प्रगट होता है। अतीन्द्रियज्ञान की कोई अचिंत्य महिमा है। उस ज्ञान को दिव्य सर्वोत्कृष्ट महिमावान कहने में आचार्यदेव को उस ज्ञान महिमा का अचिंत्य उल्लास

आया है। ज्ञान के ऐसे अचिंत्य सामर्थ्य को जाने, तब अरिहंत को जाना कहा जाता है। अरिहंत के आत्मा को पहिचानने पर अपने अचिंत्य स्वभावसामर्थ्य की ओर उन्मुख होता है और राग की वृत्ति छूट जाती है; राग का या पराश्रय का आदर नहीं रहता; स्वाश्रय को ही उपादेय समझकर परिणति स्वोन्मुख होती रहती है। इसलिये उसका ज्ञान अतीन्द्रिय होकर उसे परम आनंद का अनुभव होता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है, वही मोक्ष पंथ पर चलता है। अहा, पूर्ण साध्य के स्वीकारपूर्वक साधकभाव वर्त रहा है।

हे जीव! पूर्ण ज्ञान और आनंद को साधने का यह अवसर आया है। जगत के अनंतानंत जीवों को तो अनंत काल बाद में भी त्रसपना प्राप्त होना भी दुर्लभ है; वे अंतिम में अंतिम तीव्र दु:ख का वेदन कर रहे हैं और यहाँ तुझे संतों से अंतिम में अंतिम उत्कृष्ट में उत्कृष्ट आनंद की कथा सुनने को मिली है, तो ऐसे उत्कृष्ट ज्ञानानंदस्वभाव को प्रतीति में ले। तेरे स्वभाव की क्या महिमा कही जाये? तुझमें परिपूर्ण प्रभुता भरी है, तू ही महा प्रभु है। बाह्य में तुझे क्या लेना है? तेरी प्रभुता में ही तेरे ज्ञान-आनंद की पूर्ण समृद्धि भरी है, वही तेरे सुख का और ज्ञान का कारण है। इसलिये उसमें जा। इसप्रकार परद्रव्यों से अत्यंत निरपेक्ष और अकेले स्वद्रव्य के ही अवलंबन से तेरे अतीन्द्रिय ज्ञान तथा आनंद प्रगट हो जायेंगे।

अतीन्द्रियज्ञान का सामर्थ्य ऐसा अचिंत्य है कि स्वयं अपने में स्थिर रहकर समस्त पदार्थों को जान लेता है। पूर्ण ज्ञानशक्ति का विकास हुआ, उसमें समस्त ज्ञेय अपनी तीन काल की पर्यायों सहित सीधे-वर्तमान प्रत्यक्ष एकसाथ ज्ञात होते हैं। ज्ञान और ज्ञेय दोनों का सामर्थ्य वर्तमान में पूर्ण है। समस्त ज्ञेयों को एक समय में पूर्ण निमित्त होने की ज्ञान की शक्ति है, किंतु जीव अपनी शक्ति का विश्वास नहीं करता। जहाँ ऐसा ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ, वहाँ उसकी पूर्ण शक्ति ऐसी विकसित हुई कि समस्त पदार्थ ज्ञेयरूप से उसमें अर्पित हो जाते हैं। जहाँ ऐसा ज्ञान हो, वहीं पूर्ण सुख होता है; इसलिये आचार्यदेव ने पुन:-पुन: इस ज्ञान की अचिंत्य महिमा और प्रशंसा करके उसे उपादेय बतलाया है।

त्रैकालिक पर्यायों सहित ज्ञेय पदार्थ तो जगत में विद्यमान हैं; ज्ञेय पदार्थ में तीनकाल की पर्याय का सामर्थ्य वर्तमान में विद्यमान है और यहाँ केवलज्ञान में उसे जानने की सामर्थ्य प्रगट हो गई है, तो उस केवलज्ञान में क्या ज्ञात नहीं होगा?—सबकुछ ज्ञात होता है, प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, एकसाथ ज्ञात होता है, रागरहित ज्ञात होता है। देखो, यह ज्ञानसामर्थ्य! यह ज्ञान और ज्ञेय का मेल।

ऐसे पूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य को जिसने जाना, उसने सब कुछ जान लिया।

इस ज्ञानसामर्थ्य का निर्णय किसप्रकार किया जाये ? वर्तमान में जिस ज्ञान का अंश प्रगट वर्तता है, उस ज्ञान को अंतरस्वभावोन्मुख करने से पूर्ण के साथ एक अंश की एकता होकर पूर्ण की प्रतीति प्रगट होती है, पूर्ण की जाति का अतीन्द्रिय अंश प्रगट होता है, उसमें अतीनिद्रय आनंद का वेदन भी साथ ही है। केवली भगवान सदृश ज्ञान और आनंद का अंशतः नमून (वानगी) सम्यक्त्वी को प्रगट हो गया है। ज्ञानपर्याय को अंतरोन्मुख करने से ही ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है; इसके अतिरिक्त जड़ इनिद्रयों में, राग में या इन्द्रियों की ओर के ज्ञान में ऐसी शक्ति नहीं है कि ज्ञान सामर्थ्य को प्रतीति में ले।

भाई, अपने ज्ञान को अंतर में ले जा... बहिर्लक्ष छोड़कर अंतर्लक्ष कर... बस! यही सम्यग्दर्शन का उपाय है। स्वभाव का माहात्म्य लक्ष में लेकर अंतर में ढल! दूसरा कुछ करना नहीं है। चिदानंद से भेंट करने पर ज्ञानपर्याय प्रगट होती है, राग से भेंट करने पर ज्ञानपर्याय प्रगट नहीं होती। जहाँ ज्ञानपर्याय निजस्वभावोन्मुख हुई, वहाँ उसमें कोई उलझन नहीं रही; वह ज्ञान अतीन्द्रिय आनंदमय अमृतमय भोजन से परिपूर्ण है।

परभाव में मेरा सुख नहीं है, मेरा सुख मेरे ज्ञानस्वभाव में ही है; मेरा आत्मा स्वयं ही ज्ञान और सुखस्वभाव से परिपूर्ण है—ऐसी दृढ़ प्रतीति होने पर जगत के सर्व पदार्थों में से सुखबुद्धि छूट जाती है अर्थात् पराश्रयबुद्धि छूट जाती है और अंतर्मुख वृत्ति होती है। अहो, यह बात समझकर स्वयं अपने अंतर में उतरना योग्य है। अतीन्द्रिय शांति प्राप्त करने की यह एक ही रीति है।

***

ज्ञान का स्वभाव जानने का है; जानने में आकुलता नहीं है; त्रैकालिक पदार्थ को जानने में समभाव है। भूतकाल की पर्यायें या भविष्य की पर्यायें—उन्हें भी ज्ञान अपनी निर्विघ्न अचिंत्य महान शक्ति द्वारा जान लेता है।

ज्ञान की अचिंत्य प्रभु शक्ति है; वह जहाँ निर्विघ्न खिल गई (प्रगट हो गई), वहाँ सर्व ज्ञेयों को प्राप्त कर लेती है—जान लेती है। यदि ऐसा न जाने तो उस ज्ञान की दिव्यता ही क्या ? वह वर्तमान की अपेक्षा भूत या भविष्य को किंचित् अस्पष्ट जाने, ऐसा नहीं है। त्रिकाल को एकसाथ अक्रम से स्पष्टरूप से जान लेता है। ज्ञान की ऐसी दिव्य शक्ति प्रगट हो गई कि समस्त ज्ञेयों को अपने प्रति नियत कर लेती है। दिव्य ज्ञान कहना और वह ज्ञान किसी को नहीं जानता, ऐसा

कहना—उसमें ज्ञान की दिव्यता कहाँ रही? अमुक को जानता है और अमुक को नहीं जानता—ऐसा माना जाये तो उस ज्ञान की महिमा खंडित हो जाती है।

अंतरहित जो आकाश है, उसकी पराकाष्ठा को भी प्राप्त कर लेनेवाले ज्ञान की अगाध महिमा की क्या बात कही जाये!! अनंत अलोक की अपेक्षा जिसकी गहनता अधिक है, उस ज्ञान की गहन महिमा की तो बात ही क्या!!

* ज्ञान अलोक को नहीं जानता—ऐसा नहीं है।

* ज्ञान अलोक के छोर को जानता है—ऐसा भी नहीं है।

* अलोक की अनंतता को ज्ञान ज्यों का त्यों जानता है, उसमें ज्ञान की महिमा की अनंतता है।

* ज्ञान की महिमा की अनंतता को जाने बिना यह बात बैठना कठिन है।

* अलोक की अनंतता कहे, किंतु उसकी अपेक्षा ज्ञानसामर्थ्य की अनंतता महान है, यदि वह भासित न हो तो सर्वज्ञ अलोक को जानते हैं—वह बात नहीं बैठ सकती।

ज्ञान में जानने का स्वभाव है तो वह किसे न जानेगा? जिसप्रकार अलोक का क्षेत्र स्वभाव है, तो उसकी कहीं किसी क्षेत्र में नास्ति नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान का ज्ञाता स्वभाव है, उसमें कहीं किसी ज्ञेय को जानने की नास्ति नहीं है, समस्त ज्ञेयों को जानता है; यदि न जाने तो वह ज्ञान पूर्ण नहीं हष्ै।

जिसप्रकार द्रव्य पलटकर अन्य नहीं होता,

क्षेत्र प्रदेश पलटकर अन्य नहीं होता;

उसीप्रकार पर्याय भी उसकाल की पलटकर अन्य काल की नहीं होती और गुण का भाव पलटकर अन्य गुणरूप नहीं होता।

—ऐसा वस्तु का स्वभाव है और उसे ज्यों का त्यों जानने का ज्ञान का स्वभाव है।

इस लोक के चारों ओर अनंत.. अनंत.. अनंत अलोक फैला हुआ है—जिसका कहीं अंत नहीं है, तथापि ज्ञान उसकी अनंतता को प्रत्यक्ष जान लेता है। उसे लक्ष में लेनेवाली ज्ञानपर्याय की दिव्य सामर्थ्य कितनी? विकल्प द्वारा उस ज्ञान सामर्थ्य का पार नहीं पाया जा सकता।

यह लोक ३४३ घन राजू प्रमाण है; यह पूर्ण होने पर अलोक... फिर क्या?... यानी अलोक के बाद? अलोक... सर्वत्र आकाश फैला हुआ है... कहीं नास्ति नहीं आती... कहीं अंत नहीं

आता। ऐसे अनंत अलोक को भी ज्ञान पा लेता है—पहुँच जाता है तो उस ज्ञान की शक्ति कितनी ?—उसमें नहीं जानता, ऐसा कहीं नहीं आता। जानता है.. जानता है.. और जानता है ! ऐसी अतीन्द्रिय ज्ञानसामर्थ्य को विचारधारा में ले तो स्वभाव पर लक्ष जाकर सम्यक्त्व हो जाये।

अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, उसके निर्णय में सम्यक्त्व होता है। टीका में ज्ञान की दिव्यता कहने में आचार्यदेव को ज्ञान महिमा का कोई अचिंत्य उल्लास आया है।

अरे, दिव्य ज्ञान और दिव्य आनंद जिनके प्रगट हो गये हैं, ऐसे अरिहंत के आत्मा को पहचाने तो ज्ञान की अचिंत्य सामर्थ्य का पता लगे, उसे ज्ञान का अनुभव हो, सम्यग्दर्शन हो और केवली भगवान के ज्ञान तथा आनंद की बानगी का स्वाद लेता-लेता वह मोक्षमार्ग पर चला जाये....

रत्नत्रय की आराधना

(मोक्षप्राभृत, गाथा ४७ से ५३ के प्रवचनों से)

आराधना के दिनों में आराधना का स्वरूप समझानेवाला तथा आराधना के प्रति तथा आराधक संतों के प्रति परम बहुमान जागृत करनेवाला यह प्रवचन सबको आह्लादित करेगा।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना, सो जिनमुद्रा है; वह वीतराग जिनमुद्रा ही मोक्ष के कारणरूप है और वह स्वयं सिद्धि सुख है। मोक्ष के कारणरूप जो रत्नत्रय-स्वरूप जिनमुद्रा, उसी को मोक्षसुख कहा है। जिसप्रकार प्रवचनसार के पंचरत्न में भावलिंगी मुनि को ही मोक्षतत्त्व कहा है, उसीप्रकार यहाँ रत्नत्रयकी आराधनारूप जिनमुद्रा, सो मोक्ष सुख का कारण होने से, उसी में कार्य का उपचार करके उसी को मोक्षसुख कहा है। जिनमुद्रा कैसी है ?—तो कहते हैं कि—भगवान ने जैसी मुद्रा की आराधना की और कही। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक, वीतरागता के पिण्ड मुनि चले आते हों तो ऐसा लगता है मानो साक्षात् मोक्षतत्त्व आ रहा है ! अहा,

ऐसी मुनिदशारूप जिनमुद्रा जिसे अच्छी नहीं लगती, उसे आराधना का ही प्रेम नहीं है। ऐसी जिनमुद्रा धारी मुनि के साक्षात् दर्शन होने से मुमुक्षु जीव का हृदय आराधना के प्रति भक्ति से उछल उठता है। अरे, स्वप्न में भी जिसे ऐसी मुनिदशा के प्रति अरुचि हो, वह जीव गहन भववन में भटकता है, क्योंकि उसे आराधना के प्रति तिरस्कार है। धर्मात्मा को तो स्वप्न में भी वीतरागी संत-धर्मात्मा के प्रति बहुमान आता है; स्वप्न में भी मुनि आदि धर्मात्माओं के दर्शन होने पर भक्ति से उसका रोम-रोम उल्लसित हो जाता है।

सम्यग्दर्शनसहित चारित्रदशा हो, वहाँ बाह्य में भी दिगम्बर द्रव्यलिंग होता है; इसप्रकार अंतर में और बाह्य में वीतरागी जिनमुद्रा धारण करनेवाले संत-मुनि स्वाधीन आत्मसुख का अनुभव करते हैं। आचार्यदेव स्वयं ऐसे स्वाधीन सुख का अनुभव करते हैं। ऐसी जिनमुद्राधारी धर्मात्मा मुनियों के दर्शन से जिसे प्रमोद और भक्ति उल्लसित नहीं होती, वह जीव आराधना से भ्रष्ट वर्तता हुआ संसार में ही भटकता है। धर्मी जीव तो ऐसे आराधक मुनि को देखते ही प्रमुदित हो उठता है कि वाह! धन्य है आपकी आराधना!! धन्य है आपकी चारित्रदशा को!! धन्य है आपका अवतार!! आप साक्षात् मोक्ष का साधन कर रहे हैं। इसप्रकार प्रमोदसहित धर्मी जीव रत्नत्रय की आराधना की भावना को पुष्ट करता है।

रत्नत्रय के आराधक भावलिंगी मुनि इहलोक व परलोक दोनों के लोभ रहित निरपेक्ष वृत्ति से अंतर में चिदानंद परमतत्त्व के ध्यान में मग्न होते हैं। वे वर्तमान में ही मोक्षसुख का उपभोग कर रहे हैं और अल्पकाल में पूर्ण मोक्षसुख प्राप्त करेंगे। जिसके अंतर में लोभ रहे, इहलोक की सुख-सुविधाओं की आकांक्षा रहे, प्रतिकूलता का भय रहे अथवा परलोक संबंधी आकांक्षा रहे, वह जीव परमात्मतत्त्व के ध्यान में नहीं रह सकता। अरे, मोक्षसुख की इच्छा भी लोभ है, वह भी दोष और आस्रव है तथा उतना लोभ भी मोक्षसुख को रोकनेवाला है; इसलिये भावलिंगी मुनिवर तो निर्लोभ होकर परमात्मतत्त्व को ध्याते हैं; उसमें परम आनंदरस का ही प्रवाह बहता है।

निचली भूमिका में धर्मी को किंचित राग होता है, परंतु उस राग का लोभ नहीं है। यह राग अच्छा है—ऐसा लोभ नहीं है। राग के फल में इन्द्रपद प्राप्त होगा—ऐसा लोभ नहीं है। विदेहक्षेत्र में अवतार हो तो अच्छा—ऐसा भी लोभ नहीं है; निर्लोभ ऐसे परमात्मतत्त्व को उसने जाना है। सर्वप्रकार के लोभरहित होकर परमात्मतत्त्व के ध्यान में लीनता से मोक्ष होता है। मोक्षप्राप्ति का लोभ भी मोक्ष को रोकता है; तब फिर अन्य लौकिक पदार्थों के लोभ की तो बात ही क्या? अरे जीव! ऐसे वीतरागभावरूप आराधना, सो मोक्ष का कारण है।

मुनिवरों की मति दृढ़ सम्यक्त्व द्वारा भावित है, इसलिए दर्शनशुद्धि की दृढ़तापूर्वक उन्हें ज्ञान की भी शुद्धता प्रगट हुई है। ऐसे सम्यग्दर्शन एवं ज्ञानसहित दृढ़ चारित्र होता है। चाहे जैसे परिषह आयें, तथापि आत्मध्यान से च्युत नहीं होते। ऐसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दृढ़ आराधना द्वारा आत्मा को ध्याते-ध्याते वे मोक्षपद को साधते हैं, परमात्मपद को प्राप्त करते हैं। ऐसे आराधक जीवों का स्वरूप बतलाकर आचार्यदेव भव्य जीवों को ऐसी आराधना में लगाते हैं। आराधक जीवों का वर्णन सुनकर आराधना के प्रति उत्साह एवं भक्ति जागृत होती है। यह रत्नत्रय की आराधना, सो सर्व उपदेश के सारभूत है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करने को कहा है; उसमें दर्शन और ज्ञान तो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञानरूप हैं, परंतु चारित्र कहने से कोई बाह्यक्रियारूप चारित्र न समझ ले, इसलिये आचार्यदेव चारित्र का स्पष्ट स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि—चारित्र, वह आत्मा का स्वधर्म है और वह आत्मा का स्वभाव ही है; राग-रोष रहित जीव के अनन्य परिणाम ही चारित्र धर्म है, उसमें परम साम्य है, कहीं इष्ट-अनिष्टबुद्धि नहीं है। अहा, सर्व जीव ज्ञानमय सिद्ध समान हैं; वस्तु दृष्टि से जीव और जिनवर में कोई अंतर नहीं है। जिनवर, सो जीव और जीव, सो जिनवर—ऐसी दृष्टि तो चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को भी होती है। तदुपरांत मुनि तो ध्यान में ऐसे लीन हुए हैं कि उनके वीतराग परिणामरूप स्वधर्म प्रगट हुआ है, परिणति में राग-द्वेष नहीं रहे, उसका नाम चारित्र धर्म है। चारित्र कोई बाहर की वस्तु या क्रिया नहीं है, वह तो जीव के अनन्य वीतरागी परिणाम हैं, उनमें परम शांति निराकुलता है। अहा, ऐसी चारित्रदशा में झूलते हुए संत, मोक्ष की साधना करते हैं। परमात्मा हो या परमाणु हो, कोई वंदन करता हो, निंदा कर रहा हो—सर्वत्र समभावपूर्वक आत्मस्वरूप में एकाग्रता रहना, उसका नाम चारित्र है। देखो, यह जीव का स्वधर्म! जिसप्रकार ज्ञान, वह जीव का स्वधर्म है; उसीप्रकार ऐसा चारित्र, वह जीव का स्वधर्म है, वह जीव से भिन्न नहीं है। जिसप्रकार ज्ञान-दर्शन आत्मा से पृथक् नहीं हैं, उसीप्रकार चारित्र भी आत्मा से पृथक् नहीं हैं। शरीर में चारित्र नहीं है; राग में भी चारित्र नहीं है; राग तो आत्मा के स्वभाव से भिन्न परिणाम हैं। सिद्धदशा में राग निकल जाता है परंतु चारित्र तो रहता है। स्वरूप में स्थितिरूप वह चारित्र आत्मा का स्वाभाविक गुण है; वह सिद्धदशा में भी आत्मा के साथ अभेद रहता है।

आत्मा के स्वाभाविक परिणाम तो विशुद्ध हैं, वीतराग हैं; परंतु परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष-मोह से उसके परिणामों में मलिनता होती है। जिसप्रकार स्फटिकमणि स्वभाव से तो उज्ज्वल-

निर्मल है, उसमें अन्य द्रव्य के संसर्ग से लाल-काले आदि रंगों की झलक दिखती है; उसीप्रकार जीवद्रव्य में स्वभाव से राग-द्वेष-मोह नहीं हैं, परंतु उसके परिणाम, स्वरूप से च्युत होकर परद्रव्य से संबंध बाँधकर रागादिरूप होते हैं। वे रागादिभाव सचमुच उसके स्वधर्म नहीं हैं। परिणाम तो वह अपनी पर्याय में करता है किंतु वे परिणाम, स्वभाव के साथ अनन्यभूत नहीं हैं; इसलिए उन्हें स्वभाव से पृथक् जानकर तथा जीव के विशुद्ध चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्रता से वीतरागी चारित्र प्रगट करना चाहिये और रागादि दोष टालना चाहिये—ऐसा उपदेश है।

रत्नत्रय के आराधक धर्मात्मा जब तक वीतराग न हुए हों तथा निर्विकल्प ध्यान में स्थिर न हों, तब ध्यान की परम प्रीतिपूर्वक उन्हें ध्यान करनेवालों के प्रति भी बहुमान और वात्सल्य आता है। श्री अरिहंत देव तथा सिद्ध परमात्मा के प्रति एवं गुरु के प्रति विनय-बहुमान और भक्ति आते हैं और अपने समान अन्य साधर्मी धर्मात्माओं के प्रति अनुराग-अनुमोदना आती है। मुनियों को ऐसा भाव होता है, ऐसा कहने से उसमें सम्यक्त्वी श्रावकों-गृहस्थों की बात भी आ जाती है। जिसे देव-गुरु के प्रति, साधर्मी धर्मात्मा के प्रति विनय-भक्ति-अनुराग न हो, उसे तो धर्म की प्रीति ही नहीं है। जिसे धर्म की रुचि हो, उसे धर्मवान की रुचि अवश्य होती है। जिसे धर्मवान की रुचि-प्रीति नहीं है, उसे धर्म की ही रुचि-प्रीति नहीं है।

अहा, मुनियों का और धर्मात्माओं का ध्येय तो चैतन्य-ध्यान में स्थिर होकर पूर्ण वीतराग होना है; परंतु जब तक राग है, तब तक वीतरागता को प्राप्त देव और वीतरागता के उपासक ऐसे गुरु के प्रति विनय—भक्ति—बहुमान आता है। अपने को ध्यान की रुचि है, इसलिये ध्यानवंत धर्मात्मा को देखकर उनके प्रति भी भक्ति भाव उल्लसित होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे संत-धर्मात्मा को भी देव-गुरु की भक्ति का ऐसा भाव तथा साधर्मी के प्रति प्रमोद आता है। अहा, जिनके निमित्त से आत्मा की प्रतीति हुई, उनके प्रति परम भक्ति उल्लसित होती है। सम्यग्दृष्टि को ही देव-गुरु के प्रति सच्ची भक्ति होती है, क्योंकि उन्हीं को यथार्थ प्रतीति-सहित भक्ति है। मिथ्यादृष्टि तो राग का पथिक-राग के मार्ग पर चलनेवाला है; उसे वीतराग परमात्मा की सच्ची भक्ति नहीं होती। धर्मात्मा तो वीतराग के मार्ग पर प्रयाण कर रहा है, इसलिये वीतराग के प्रति सच्ची भक्ति उसे होती है। बाहर से कदाचित् अज्ञानी और ज्ञानी में भक्ति की समानता दिखायी दे, परंतु अंतर में महान अंतर है। ज्ञानी के अंतर में वीतरागस्वभाव के सेवनपूर्वक भक्ति है और अज्ञानी के अंतर में राग का ही सेवन है।

ज्ञानी जीव को भूमिकानुसार राग आता है, किंतु श्रद्धा में तो व्रतादिक के शुभराग को भी १०० टका हेय मानते हैं, करनेयोग्य नहीं मानते; तब अज्ञानी चाहे निश्चयाभासी हो या व्यवहाराभासी हो या उभयाभासी हो, वह राग की रुचिवान होने से राग को भला मानता है, करनेयोग्य मानते ही हैं।

ज्ञानी शिष्य ने जिनसे आत्मज्ञान प्राप्त किया, उन गुरु से कहता है कि—**हे गुरु! आपके प्रताप से हमने भवसागर पार किया... आपने हमें अनंत भव समुद्र से उबारा... आप न मिलते तो हम संसार में ही भटकते रहते! आपने परम कृपा करके हमें पार उतार दिया... आपके चरणों के प्रताप से हमें रत्नत्रय आराधना की प्राप्ति हुई... आपका महान उपकार है। ऐसा श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने गोम्मटसार में कहा है।**

साधर्मी धर्मात्मा अथवा धर्म का सेवन करनेवाले समान साधर्मी के प्रति जिसे प्रेम न आये, अनुमोदना न आये, उसे धर्म की और ध्यान की रुचि ही नहीं है। जिसे धर्म की प्रीति हो, उसे सम्यग्दर्शनादि धारण करनेवाले धर्मात्मा के प्रति भी प्रेम होता है। धर्म धर्मात्मा के बिना नहीं होता। ध्यान का दंभ करे और ध्यानवंत सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के प्रति प्रेम-वात्सल्य-भक्ति न आये तो उसे ध्यान की अनुरक्ति नहीं है। अरे, हम तो देव-गुरु-धर्मात्मा के दासानुदास हैं—इसप्रकार जिसे विनय-बहुमान नहीं है, उसकी वृत्ति धर्म में नहीं है, वह कहीं अन्यत्र भटक रही है—ऐसा समझना चाहिये। जो जीव भावभासनरूप हेय-उपादेय के विवेकसहित है, देव-गुरु की भक्ति सहित है और संयमी-साधर्मियों के प्रति अनुरक्त है, वही सम्यक्त्व का उद्वहक है अर्थात् सम्यक्त्व की आराधना सहित है। देव-गुरु के प्रति भक्ति या साधर्मी के प्रति अनुरक्ति नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन या ध्यान नहीं होता, उसका ध्यान तो कल्पना की तरंगें हैं। [यह कथन सविकल्पदशा में लागू पड़ते हैं। सातवें गुणस्थान से तो बुद्धिपूर्वक राग नहीं है, वंद्य-वंदक का भेद नहीं है, वहाँ तो निश्चयमोक्षमार्ग है।]

ध्यान तो सम्यग्दृष्टि को ही होता है। सम्यग्दर्शनसहित ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में जितने कर्मों का क्षय करेगा, उतना अज्ञानी उग्र तप द्वारा भी नहीं कर सकता। अज्ञानी के उग्र तप की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान का सामर्थ्य महान है। ज्ञानी अंतर में चैतन्य पर दृष्टि लगाकर एक क्षण में अनंत कर्मों को नष्ट कर देगा। अज्ञानी घोर तप के कष्ट सहन करके अनेक भवों में जितने कर्मों को नष्ट करेगा, उतने ज्ञानी-धर्मात्मा चैतन्य की आराधना द्वारा क्षणमात्र में नष्ट कर देगा... ऐसा सम्यग्ज्ञान का परम सामर्थ्य है। इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र की आराधना का उपदेश है।

समंतभद्र स्वामी का व्यसन

तुम्हें जानकर आश्चर्य होगा कि समंतभद्रस्वामी को एक व्यसन था... परंतु कैसा, जानते हैं ?—वह व्यसन था जिनेन्द्र भगवान की सुंदर स्तुति करने का। जिनेन्द्र भगवान की स्तुति का प्रसंग आने पर उनके हृदय के तार झनझना उठते थे... जिनेन्द्र भगवान के प्रति उन्हें ऐसी लगन थी कि मानों जिनेन्द्र भक्ति के लिये अपने आपको अर्पण कर दिया हो! उन्हीं के शब्दों में देखें तो 'स्तुति विद्या' गाथा ११४ में वे कहते हैं कि:—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चाऽपि ते
हस्तावंजले कथा-श्रुति-रतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनः शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजसवी सुजनोऽमेव सुकृती तेनैव तेजः पते॥

वीर जिनेन्द्र को लक्षकर कहते हैं कि—हे भगवन्! मेरी सुश्रद्धा आपके मत में है, मेरी स्मृति भी सदैव आपका ही स्मरण करती है, मैं पूजा भी आपकी ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही अंजलि जोड़ने के लिये हैं, मेरे कान आपके ही गुणों की कथा सुनने में लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही सुंदर रूप को देखती रहती है और मुझे जो व्यसन है, वह आपकी सुंदर स्तुतियों की रचना करने का ही है; मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करने में तत्पर रहता है।—हे प्रभो! ऐसे सर्व प्रकार से मैं आपकी आराधना करता रहता हूँ। इसलिए हे तेजपते! हे केवलज्ञानी प्रभो! मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति हूँ।

व्यसन अर्थात लगन; जिसे जिसका व्यसन होता है, उसके बिना वह रह नहीं सकता; जिसप्रकार बीड़ी, अफीम आदि का कुव्यसनी उनके बिना नहीं रह सकता, और उन वस्तुओं को देखते ही उनकी ओर उसकी वृत्ति झुक जाती है; उसीप्रकार भगवान का भक्त—जिसे चैतन्य के परम गुणों के आस्वादन की रुचि का व्यसन लगा है, उसे परमात्मा के प्रति प्रमोद उल्लसित होता है कि—अहो नाथ! आपके गुणों की क्या बात कहें ? हम तो आपके दासानुदास हैं... हमें आपकी उत्तमस्तुति करने का व्यसन लगा है। नाथ! आपके गुण देखकर हमसे रहा नहीं जाता और सहज ही आपकी स्तुति हो जाती है। आपके गुणों के प्रति हमारा प्रमोद वश में नहीं रहता। आपकी वीतरागता का (तथा अंतर में अपने वीतरागस्वभाव का) ऐसा अचिंत्य बहुमान है कि उसके

स्तवन बिना एक दिन भी नहीं रहा जाता। नाथ! लगन है तो तेरी वीतरागता की है, अन्य किसी वस्तु की लगन इस जगत में नहीं है।

यह समंतभद्रस्वामी जैन शासन के महान प्रभावशाली संत थे... कुन्दकुन्दप्रभु के पश्चात् लगभग १०० वर्ष बाद वे हुए हैं। भगवान की उत्तम स्तुतियों का उन्होंने ऐसा स्रोत प्रवाहित किया है कि वे जैन साहित्य में 'आद्यस्तुतिकार' के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके द्वारा रचित २४ तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति अति रोमांचक, अति गंभीर तथा अत्यंत रहस्यपूर्ण है; वह 'स्वयंभूस्तोत्र' के नाम से सुप्रसिद्ध है; उस स्तुति के समय चन्द्रप्रभस्वामी की प्रतिमा प्रगट हुई थी। उस स्तुति पर पूज्य गुरुदेव के कुछ प्रवचन हो चुके हैं। समंतभद्रस्वामी को भी भावी तीर्थंकर माना जाता है।

नमस्कार हो उन परम जिनभक्त शासनप्रभावी धीर-वीर संत को!

सुभाषित

— ध्यान विषे अभ्यंतरे देखे जे अशरीर;
शरमजनक जन्मो टले न पिये जननी क्षीर॥ (श्री योगीन्द्रदेव)

— लीन भयो व्यवहार में युक्ति न उपजै कोई;
दीन भयो प्रभुपद जपै मुक्ति कहाँ से होई? (श्री पंडित बनारसीदासजी)

— निर्मल अंत:करण से आत्मा का विचार करने योग्य है।

— यथार्थ वचन ग्रहण करने में दंभ नहीं रखना, और सुनानेवाले का उपकार मत भूलना।

— हमारा आत्मा संसाररूपी परिवार के घर में अतिथिरूप से आया है।

— समर्थ पुरुष कल्याण का स्वरूप पुकार-पुकार कर कह गये हैं, किंतु वह किसी बिरले पुरुष की समझ में ही यथार्थरूप से आया है।

— शुक्ल अंत:करण के बिना वीर प्रभु के वचनों का मूल्यांकन कौन कर सकेगा? (श्रीमद् राजचंद्रजी)

— जो रुचता हो, उसमें वादे या बहाने नहीं किये जाते; आत्मा में ज्ञानानंद लक्ष्मी भरी पड़ी है; उसमें दृष्टि करने से वह प्रगट होती है। कोई कहे कि उसकी रुचि तो है, परंतु फिर कभी देखेंगे, तो उसे रुचि ही नहीं है। (पूज्य गुरुदेव)

भजन

(आत्मार्थी - सरदार शहर)

गुणीजन अन्तस अरिहंत ध्याय,
राखो तो शांति जीव में जी महारा ज्ञान ।।राखो० ॥
गुणीजन विश्य नियमसर होय,
होणी तो कोई नां टलेजी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन द्रव्य परायो अपणाय,
फंसायो पंथी मोह में जी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन विकलप मोह विलाप,
ज्ञानी के नहीं काम का जी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन कुण देखे पर की वाट,
परिणति कोई नां रुकेजी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन वस्तुव्यवस्था आप,
वस्तु ही करती आयसीजी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन व्यर्थ कोलाहल त्याग,
अवसर आयो काम को जी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन करणां छै स्व-पर ज्ञान,
अपणाणां निज आतमाजी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन आवो-आवो आतममांय,
देखो तो शांति जीवरीजी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन अन्तस प्रभुपद पाय,
सिद्धत्वपद पामस्याजी म्हारा ज्ञान ।
गुणीजन करणां छै स्व-पर ज्ञान,
अपणांणो निज आतमाजी म्हारा ज्ञान ।

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नंबर २

इन्द्रभूति गणधरदेव और काललब्धि आदि कारण सामग्री

[श्री जयधवल आदि के आधार से—गतांक नंबर २३४ से चालू]

(श्री रामजीभाई माणिकचंद दोशी, एडवोकेट)

(१२)

जो पर्याय होनेवाली हो वही होती हैं, अन्य नहीं।

प्रथम लेख 'इन्द्रभूति गणधरदेव और काललब्धि आदि' में यह सिद्ध किया गया है कि (१) जिस द्रव्य की जो विकारी या अविकारी पर्याय होने योग्य है, वही अपने काल में होती है, अन्य काल में नहीं होती। (२) जिस समय जो उपादानकारण और निमित्तकारण होने योग्य हों, वही होते हैं, अन्य नहीं।

इस सिद्धांत को दृढ़ करने के लिये "जो पर्याय होने योग्य हो, वही होती है, ऐसा सिद्धांत है क्योंकि वही पर्याय 'सत्' है, अन्य नहीं। जो होने योग्य न हो ऐसी 'असत्' पर्याय किसी भी द्रव्य में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में और किसी भी भाव में उत्पन्न होती ही नहीं है" ऐसा कथन जैनागम पुकार-पुकार कर कहता है।

यह विषय श्री कषायपाहुड़ (गाथा १३-१४) की टीका में समाविष्ट है। उस (टीका) का अर्थ यह हुआ कि जो जीव, पर्याय के स्वरूप को यथार्थपने से नहीं जानते हैं और उसका विरोध करते हैं, उन जीवों को सम्यग्दर्शन, देशव्रत, संयम और चारित्र कभी नहीं होता। इसकी गाथा यह रही:—

सम्मत्तदेसविरदीसंजमउवसामणा च खवणा च।
दंसणचरित्तमोहे अद्धापरिणामणिद्देसो॥

(श्री जयधवल, भाग-१, पृष्ठ १७७)

इसका अर्थ यह हुआ कि दर्शनमोह की उपशामना, दर्शनमोह की क्षपणा, देशविरति,

संयम, चारित्रमोह की उपशामना और चारित्रमोह की क्षपणा नामक अधिकारों में अद्धापरिणामों का निर्देश करना चाहिए। (गाथा१४)। इसके चूर्णिसूत्र में कहा है कि 'कषायप्राभृत' जो नाम है वह नय-निष्पन्न है (देखिये, श्री जयधवल, भाग-१, पृष्ठ १९९)। नय के संबंध में इस चूर्णिसूत्र की टीका में श्री वीरसेन स्वामी (पैराग्राफ १८०, पृष्ठ २१६ में) कहते हैं कि 'अयं सर्वोऽपि द्रव्यप्रस्तारः सदादिपरमाणुपर्यन्तो नित्यः, द्रव्यात् पृथग्भूतपर्यायाणामसत्त्वात्।' अर्थात् सत् से लेकर परमाणु तक यह सब द्रव्यप्रस्तार (द्रव्य का फैलाव) नित्य है क्योंकि द्रव्य से सर्वथा पृथग्भूत पर्यायों की सत्ता नहीं पाई जाती। जो जीव यह मानते हैं कि भविष्य में होनेवाली विकारी पर्यायें अनिश्चित हैं, वे जीव यह मानते हैं कि विकारी पर्यायों की सत्ता द्रव्य से सर्वथा पृथग्भूत है। उन जीवों की यह मान्यता (श्रद्धा) असत्य है। अब उस टीका के (पैराग्राफों) के अनुसंधान में कहते हैं कि 'न पर्यायस्तेभ्यः पृथगुत्पद्यते, सत्तादिव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भात्।' अर्थात् यह मानना उचित नहीं कि 'पर्याय द्रव्य से पृथक् उत्पन्न होती है' क्योंकि सत्तादिरूप द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं पाई जाती। यह भी दर्शाया गया है कि कोई भी पर्याय सत् आदि से भिन्न नहीं हो सकती। 'विकारी पर्याय अनिश्चित है' ऐसी श्रद्धा 'पर्याय सत् आदि से भिन्न पाई जाती है' इस मान्यता पर निर्भर है। जिस पर्याय को सत् मानना, उसी को अनिश्चित भी, ये दोनों मान्यतायें परस्पर विरोधी हैं। उक्त कथन के आगे कहा गया है कि 'न चोत्पत्तिरप्यस्ति असतः खरविषाणस्योत्पत्तिविरोधात्।' अर्थात् दूसरी बात यह है कि सत्तादिरूप द्रव्य से पर्यायों को पृथक् मानने पर वे असद्रूप हो जाती हैं, अतः उनकी उत्पत्ति भी नहीं बन सकती और खरविषाण की तरह असत् अर्थ की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है।

(१३)

देखिये, यहाँ स्पष्ट किया गया है कि सत् अर्थात् द्रव्य में होने योग्य जो पर्याय होती है, वही उत्पन्न होती है, असत् अर्थात् जो द्रव्य में होने योग्य ही न हो, वह एक समय के लिये भी उत्पन्न नहीं होती।

इसप्रकार, अस्ति-नास्तिरूप सम्यक् अनेकांत का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। यदि यह अनेकांत सिद्धांत न माना जावे तो खरविषाण की भी उत्पत्ति होने लगेगी परंतु ऐसा मानने में असत् अर्थ की उत्पत्ति मानने जैसा महादूषण आता है।

इसी वक्तव्य को आगे और भी स्पष्ट करते हैं। 'ततः असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्व

संभवाभावात् शक्तस्य, शक्यकरणात् कारणभावाच्च सतः आविर्भाव एव उत्पादः। तस्यैव तिरोभाव एव विनाशं इति द्रव्यार्थिकस्य सर्वस्य वस्तुनित्यत्वात् न उत्पद्यते न विनश्यति चेति स्थितम्....।' इसका अर्थ देखिये। **जो असत् है, वह किया नहीं जाता है। कार्य को उत्पन्न करने के लिये उपादान कारण का ग्रहण किया जाता है।** सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं पाई जाती। समर्थ कारण भी शक्य कार्यों को ही करते हैं। पदार्थों में कार्यकारणभाव पाया जाता है, **इसलिए यह समझना चाहिये कि सत् का अविर्भाव ही उत्पाद और उसका तिरोभाव ही विनाश है।** इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से समस्त वस्तुएँ नित्य हैं, इससे न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न नष्ट ही, यह निश्चित हो जाता है।

(१४)

इस कथन का आशय अग्रलिखित है:—

(१) जो असत् है, उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। [इससे यह सिद्ध हुआ कि जो पर्याय असत् है अर्थात् होनेवाली नहीं है, उसे कोई भी उत्पन्न नहीं कर सकता। चाहे वह उपादान हो या निमित्त, उसे उत्पन्न किया ही नहीं जा सकता।]

(२) कार्य को उत्पन्न (पर्याय-उत्पाद) करने के लिये उपादान का ग्रहण करना चाहिये (उपादान ग्रहणात्) अन्य किसी का नहीं अर्थात् निमित्त का ग्रहण नहीं करना चाहिए। [इससे यह सिद्ध हुआ कि निमित्ताधीन जीवों की मान्यता भ्रमयुक्त है। निमित्त की खोज में अपना जीवन बिताना, यह एक ऐसा कार्य है जो अपने को निमित्ताधीन बनाता है क्योंकि यह दृष्टि ही पराधीन दृष्टि है। ऐसी श्रद्धा (मान्यता) जीव की स्वाधीनता का विनाश करती है।]

(३) 'सर्व संभवाभावात्' पद से सिद्ध हुआ कि उपादानकरण के अतिरिक्त अन्य कारण से कोई भी कार्य हो तो 'सर्व संभव का अभाव' न रहेगा और सबसे कार्य उत्पन्न होने लगेगा। जो अशक्य है। जो शक्य है, उसका विवेचन आगे (पैराग्राफ नं० ४ में) किया जावेगा।

(४) 'शक्तस्य शक्यकरणात्' अर्थात् शक्त का ही शक्य कार्य करने में 'करण' हो सकता है, अन्य कोई नहीं। ऐसा शक्त उपादान ही है, अन्य कोई नहीं, और वह (उपादान) चूँकि शक्त है अतः अपना कार्य करण होकर करता है। 'यह सब अनिश्चित है कि निमित्त के रूप में कौन सा द्रव्य किस स्थान पर और किस काल में मिलेगा आदि, इसलिये विकारी कार्य की समस्या अनिश्चित है' ऐसी मान्यता आत्मा के सम्यग्ज्ञान के लिये अत्यंत विघातक है, इतनी विघातक है

कि यह एक शोचनीय विषय बन जाता है।

(५) उस शक्य करण से कारणभाव होता है। इसलिए सत् का आविर्भाव होता है और **जो असत् हो, उसका आविर्भाव नहीं होता है।** इससे यह सिद्ध हुआ कि जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे द्रव्य में शक्तिरूप से सत् हैं और वे अपनी ही शक्ति से अपने काल में प्रकट रूप से शक्य होती है। यह सिद्धांत निमित्ताधीन विचारवालों की कल्पना का पूर्ण रूप से खंडन कर डालता है।

(६) सत् का आविर्भाव ही उत्पाद है। मूल में निश्चयात्मक 'एव' शब्द है जो यह बताता है कि 'अनिश्चित का आविर्भाव विकारी पर्याय के लिये उत्पाद है' ऐसी श्रद्धा असत्य है। विकारी पर्यायें 'पर्याय' की गणना से बाहर नहीं हैं। इसलिये 'शुद्ध पर्याय के लिये जो सिद्धांत है, उससे विरुद्ध सिद्धांत विकारी पर्याय के लिये है' ऐसा मानने का अर्थ यह हुआ कि विकारी पर्यायें 'पर्याय के' अंतर्गत नहीं आतीं, बल्कि उसका अतिक्रमण करती हैं। ऐसी मान्यता से द्रव्य और पर्याय, दोनों की मान्यता से बड़ा दूषण उत्पन्न होता है। यह स्मरणीय है कि इस पैराग्राफ में आचार्यदेव ने जीव और परमाणु, दोनों का समावेश किया है। वे कहते हैं कि दोनों (जीव और पुद्गल) द्रव्यों में विकारी और अविकारी पर्यायें होती हैं। इसलिये यह कथन दोनों प्रकार की पर्यायों पर लागू होता है।

(१५)

इस सबका तात्पर्य यह है कि जो जीव भविष्य की विकारी पर्याय को अनिश्चित मानते हैं, वे चूर्णिसूत्र में कहे हुए 'नय' के स्वरूप में विपरीतता करते हैं। इसलिए कषायपाहुड़ (गाथा १४) में कहा गया है कि सम्यक्त्व, देशविरत, संयम और चारित्र आदि कोई भी शुद्ध पर्याय कभी प्रगट नहीं होती। कषायपाहुड़ की इस टीका में श्री वीरसेन स्वामी ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किया है, उसको श्री जयधवल के अन्य विभागों, श्री धवल, श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय और श्री नियमसार आदि अनेक आर्ष ग्रंथों से समर्थन मिलता है।

(१६)

उपरोक्त कथन का प्रयोजन

प्रत्येक द्रव्य की उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें अपने-अपने स्वकाल में होती हैं, ऐसा जो जीव सम्यक्तया जाने, भावभासनरूप निर्णय करे तो पूर्व में अज्ञानवश जो परसन्मुख होकर पर का कर्तापन का अभिमान और अपनी पर्यायें उल्टी-सीधी करूँ, ऐसी आकुलता थी, वह छूट जाये

और अपना शुद्ध ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर अपूर्व सम्यग्दर्शन, तथा सच्चा भेदविज्ञान प्रगट हो जाये, ऐसा नियम है।

ज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि 'यद्यपि यह जीव काललब्धि के वश से अनंत सुख का भाजन होता है तो भी विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव का धारक जो निजपरमात्मतत्त्व कर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-आचरण और संपूर्ण बाह्य द्रव्य की इच्छा को दूर करने रूप लक्षणवाला तपश्चरण **जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप जो चार प्रकार की निश्चय आराधना है, वह आराधना ही उस जीव के अनंत सुख की प्राप्ति में उपादानकारण** जाननी चाहिये, उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिये कालद्रव्य हेय है।' (बृहदद्रव्यसंग्रह, गाथा २१ की संस्कृत टीका तथा अनुवाद)

(१७)

यह आराधना किसप्रकार करना ?

इस विषय में बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ के तात्पर्यार्थ में आचार्यदेव ने निम्न प्रकार कहा है:—'यहाँ सारांश यह है—**यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षण क्षायोपशमिकज्ञान मुक्ति का कारण है, तथापि ध्यान करनेवाले पुरुष को नित्य सकल निरावरण अखंड एक सकल विमल केवलज्ञानरूप परमात्मा का जो स्वरूप है, वही मैं हूँ-खंडज्ञानरूप मैं नहीं हूँ - ऐसी भावना करना चाहिये।'**

ऐसी भावना करने से संवरतत्त्व प्रगट होता है अर्थात् निश्चय आराधना प्रगट होती है। जो जीव अपने परमात्मा को सकल विमल केवलज्ञान की शक्तिरूप मानकर उसके सन्मुख होता है, उसको संवर होता है, दूसरों को संवर नहीं होता।

आत्महितकारी धर्म का मूल सर्वज्ञ है, धर्म जिज्ञासुओं को प्रथम से ही ऐसा निर्णय करना चाहिये कि सर्वज्ञ परमात्मा ने केवलज्ञान द्वारा ऐसा सुनिश्चित तथा स्पष्ट जाना है कि त्रिकालवर्ती छहों द्रव्य की अवस्था जैसी विकारी-अविकारी पर्यायें उस-उस द्रव्य की स्व उचित कारण सामग्री द्वारा अपने-अपने स्वकाल में ही होती है; अन्य प्रकार नहीं होती, बस जिसको केवलज्ञानानुसार ऐसा श्रुतज्ञान है, वह ही जीव भेदज्ञान द्वारा अपना त्रैकालिक ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दृष्टि हो सकता है। जो जीव एकांत काललब्धि के आश्रयी रहें, अथवा केवलज्ञानी ने जो सुनिश्चित ज्ञेय-ज्ञानस्वभाव को देखा है, उसके विरुद्ध श्रुतज्ञान को माने, यह जीव कभी भी सम्यग्दृष्टि हो सकता नहीं। अकाल का अर्थ आगे-पीछे या अनिश्चित करना

जिनागम से विपरीत है। उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें कहीं पर भी अक्रम या अकाल में होती हैं, ऐसा कथन जिनागम में नहीं है।

कोई ऐसा माने कि—१२वें गुणस्थान के बाद शुद्धोपयोग होता है, छद्मस्थ को शुद्धोपयोग नहीं होता; मोक्षमार्ग संबंधी क्षायोपशमिकज्ञान शुद्धोपयोग लक्षणवाला नहीं होता तो वह धारणा गलत है, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३४ की संस्कृत टीका से तथा जिनागम से विरुद्ध है।

(१८)

'अकाल' शब्द का अर्थ

पंडित श्री जिनेश्वरदासजी श्री पद्मप्रभ भगवान की पूजा में कहते हैं:—

इस विकट काल **अकाल** माँही पद्मप्रभ पद ध्याइये।
तिहि भक्तिवस निज लहै पद्मा सुख अनूपम पाइये॥

यह पाठ इस पूजा में एक स्थान पर ही नहीं, किंतु अनेक स्थानों पर आया है।

अब विचार कीजिये कि इस 'अकाल' शब्द का अर्थ असमय काल, अक्रम काल या अनिश्चित काल है या कोई दूसरा अर्थ। इस अकाल शब्द का अर्थ स्पष्टत: अक्रम, असमय या अनिश्चित कदापि नहीं, बल्कि यह अकाल शब्द, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के अनादि से अनंत तक चलनेवाले स्व-अवसर, स्वनिश्चित-काल के अर्थ में आया है। इसलिए अकाल शब्द का अर्थ स्वकाललब्धि प्राप्त, स्वसमयी और निश्चित है, तथापि उपर्युक्त पूजा में 'अकाल' शब्द का प्रयोग यह बतलाने के लिये किया गया है कि यह (वर्तमान) काल 'धर्मकाल' नहीं है अर्थात् 'अधर्मकाल' है।

कालद्रव्य (तीनों काल) तो द्रव्य, गुण और पर्याय की दृष्टि से शुद्ध ही है, तथापि इस पंचम काल में (सर्वज्ञ भगवान ने देखा है कि) इस क्षेत्र में जन्म पाये हुए जीव प्राय:, मुख्यतया कलुषित परिणामों और मंद बुद्धिवाले होते हैं। यही बतलाने के लिये पंडित श्री जिनेश्वरदासजी ने इस काल के ऊपर उपचार करके 'काल' को 'अकाल' कहा है। उनके मत से यह विकट काल ही 'अकाल' है, परमार्थ से 'अक्रम' के अर्थ में 'अकाल' नहीं। बल्कि पंडितजी ने इस काल के जीवों के कलुषित भावों का ज्ञान कराने के लिये उस (काल) को उपचार से 'विकट' कहा, इतना ही नहीं, उसे उपचार से 'अकाल' भी कहा। यह अर्थ स्याद्वाद सिद्धांत के अनुसार है।

सम्यग्ज्ञानियों ने इस विषय में क्या कहा है, यह देखें। मोक्षमार्गप्रकाशक में श्री पंडित

टोडरमलजी कहते हैं कि (१) 'इस समय में मंदबुद्धिमान जीव बहुत देखने में आते हैं।' (अध्याय १)। (२) 'देवशास्त्रगुरु तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है। उसके आधार तो धर्म है, उसमें शिथिलता रखे तो अन्य धर्म कहाँ से हो सके। विशेष क्या कहना सर्वथा प्रकार कुदेव, कुगुरु, कुधर्म के त्यागी होना योग्य है; क्योंकि कुदेवादि का त्याग नहीं करने से मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और **इस काल में उसकी प्रवृत्ति विशेष देखने में आती है, इसलिये उसका निषेधरूप निरूपण किया है, उसको जानकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करो।**'

यही काल विकट अकाल है, इसलिये इसमें बहुत जीव निश्चयधर्म का निषेध करनेवाले हैं। फिर भी ऐसा नहीं कि इस काल में सच्चा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र न हो सकते हों। इसीलिए पंडितजी ने कहा है कि 'मिथ्यात्वभाव को छोड़कर अपना कल्याण करो।'

(१९)

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत नियमसार (गाथा १५४) की टीका में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि 'जो इस दग्धकालरूप (हीनकालरूप) आकल में तुम शक्तिहीन हो तो तुम्हें केवल निजपरमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्तव्य है।' कलश २६४ (पृष्ठ ३१०) में कहा है कि 'असार संसार में पाप से भरपूर कलिकाल का विलास होने से इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में मुक्ति नहीं है। इसलिए इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सके? निर्मल बुद्धि वाले जीव इस कारण से भव भय के नाश करनेवाली इस निजात्मश्रद्धा को अंगीकृत करते हैं ॥२६८॥'

सारांश यह हुआ कि 'अकाल' शब्द का अर्थ काल की अपेक्षा तो निश्चित ही है; भाव की अपेक्षा उसका अर्थ है विकट कलिकाल, और यही अर्थ समीचीन है।

(२०)

शंका—सोपक्रम आयु के धारक जीवों को 'अकाल मृत्यु' होती है, इस कथन में आये 'अकाल' शब्द का क्या अर्थ है?

समाधान—यहाँ 'अकाल' शब्द का अर्थ यह हुआ कि उस मृत्यु के समय में 'सोपक्रम आयु' का उदयकाल नहीं था (किंतु उदीरणा काल था)। ऐसा ज्ञान कराने के लिये अकाल कहा है। यह उदीरणाकाल स्वकाल में नहीं था किंतु असमय में हुआ या अनिश्चित काल में, ऐसा बताने के लिये नहीं है। तब किसप्रकार है? सोपक्रम आयु का परिणमन दो प्रकार का होता है, जब से भुज्यमान आयु का उदय हुआ, तब से वह उदयरूप है किंतु जब जीव का कदलीघात मरण होता

है, तब वह आयुकर्म का 'उदयकाल' नहीं किंतु उदीरणा काल था, यही बताने के लिये उसे 'अकाल' कहा है। जीव का आयुकर्म जब उदयरूप न हो, तब वह उदीरणारूप ही नियम से होता है, अन्य प्रकार नहीं, स्याद्वाद सिद्धांत के अनुसार यह उसका तात्पर्यरूप अर्थ है और यही अर्थ भगवती आराधना की संस्कृत टीका में भी किया गया है। यदि इससे भिन्न प्रकार का कोई अर्थ किया जावेगा तो वह आप्तमीमांसा (श्लोक ४२-१०७) के सिद्धांत से विरुद्ध पड़ेगा।

(२१)

प्रत्येक पर्याय अपनी काललब्धि के अनुसार होती है, इस सिद्धांत के विषय में स्वामी समंतभद्र की आप्तमीमांसा और अकलंकदेव की अष्टशती में कहा गया है कि जिस जीव की मुक्ति होती है, वह 'स्वकाललब्धो स्यादिति प्रतिपत्तव्यम्।' स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी (गाथा २१९, २४४) सभी पदार्थों को कालादिलब्धि सहित परिणमनेवाला माना है। श्री जयधवला (पुस्तक १, पृष्ठ २३) में श्री वीरसेनस्वामी कहते हैं कि 'हरेक कार्य अपनी काललब्धि अनुसार होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता।' यही बात पैरा नंबर १५ में निम्न शब्दों में कही है, 'अनागत और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायें भूतशक्ति और भविष्यत्शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं।' सब पर्यायें अपने काल में सुनिश्चित रूप से ज्ञेय हैं, ज्ञान उनको अक्रम से (युगपत्) जानता है। इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिये जयधवल (पुस्तक १, पृष्ठ ७६, पैरा ५७) में कहा है कि:—

शंका—सौधर्म इन्द्र ने भगवान को केवलज्ञान होते ही गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र, गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था, उसमें उस समय गणधर को उपस्थित करने की शक्ति नहीं थी। जो तीन ज्ञानों का धारक हो, श्रुतपारंगत हो और अवधिज्ञानी हो, ऐसे सौधर्म इन्द्र में भी जो शक्ति नहीं, वही शक्ति एक साधारण मनुष्य में हो और वह काललब्धि का सिद्धांत तोड़ दे-ऐसा कदापि नहीं हो सकता। (धवला, पुस्तक १३, पृष्ठ ३३२-३४१)।

(२२)

षट्खंडागम के मूलसूत्र ६३ और ७२ मनःपर्ययज्ञान के विषय में हैं। उसके शब्द हैं, 'सण्णा-सदि-मदि-चिंता-जीविद-मरण० आदि अर्थात् संज्ञा, स्मृति, मति, चिंता, जीवित और

मरण, ये सब जीव की पर्यायें हैं, ये अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान का विषय कैसे बन सकती हैं ? उसके उत्तर में कहा है कि इन सभी को 'मूर्त' कहा जाता है। इसका शंका-समाधान यह रहा:—

शंका—चूँकि जीव अमूर्त है, अत: वह मूर्त अर्थ को जाननेवाले अवधिज्ञान से (और) नीचे के मन:पर्यय ज्ञान द्वारा कैसे जाना जाता है ?

समाधान—यह शंका उचित नहीं क्योंकि संसारी जीव मूर्त आठ कर्मों के द्वारा अनादिकालीन बंधन से बद्ध है। अत: वह अमूर्त नहीं हो सकता।

शंका—स्मृति तो अमूर्त है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि स्मृति जीव से पृथक् उपलब्ध नहीं होती। इसप्रकार, अब यह स्पष्ट हुआ कि संज्ञा, स्मृति, चिंता, जीवित और मरण आदि जीव की पर्यायें कर्म के उदय, उदीरणा और क्षयोपशम आदि के साथ संबंध रखती हैं। इसलिए अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान का विषय बनने में वे 'मूर्त' सिद्ध होती हैं।

'मरण' शब्द में कदलीघात से होनेवाले सब मरण आ जाते हैं, यह स्पष्ट करने के लिये श्री पुष्पदंत और श्री भूतबलि आचार्य ने भगवान धरसेनाचार्य के उपदेशानुसार (सूत्र ६३ और ७३) में कहा है कि इतने वर्ष तक यह जीव अमुक पर्याय में जीवित रहेगा, इस कथन से उसके मरण का ज्ञान हो जाता है तो भी पर्यायार्थिकनय का ज्ञान कराने के लिये और उसके कदलीघात मरण को समाविष्ट करने के लिये 'मरण' शब्द दिया है। अकालमृत्यु और कदलीघात मरण, इन दोनों का एक ही अर्थ है।

—संसार की स्थिति ही ऐसी है कि—उसमें अनुकूलता और प्रतिकूलता के द्विविध प्रसंग सदा वर्तते ही रहते हैं; उन दोनों से उपेक्षित होकर तू अपने ज्ञानस्वभाव में आ।

— स्पष्ट दिखाई देता है कि—संसार में सुख नहीं है, संयोग में सुख नहीं है, तथापि जीव क्यों उसमें तल्लीन रहता है ?

ज्ञानियों के सम्यक् मार्ग की प्रसिद्धि

श्री वीतरागी जैन संतों ने जीव-अजीव का स्पष्ट भेदभाव कराके अरहंतों के सम्यक् मार्ग को प्रसिद्ध किया है; सम्यक् मार्ग दिखलाकर जगत के ऊपर उपकार किया है। जीव व अजीव के स्वरूप का वास्तविक भेद जानना, वही ज्ञानियों के सम्यक् मार्ग की प्रसिद्धि का कारण है। संतों ने जिसप्रकार से जीव-अजीव का भिन्न स्वरूप समझाया है, वैसा समझने से स्वाश्रयरूप वीतरागभाव होता है और उसी का नाम है—सम्यक् मार्ग की प्रसिद्धि।

(पूज्य कानजीस्वामी का प्रवचन)

इस जगत में जीव व पुद्गल संयोगरूप से एक क्षेत्र में रहते हुए भी दोनों का स्वरूप अलग-अलग ही है। पुद्गलमय ऐसा शरीर, व ज्ञानमय ऐसा जीव, ये दोनों भिन्न हैं, अभी भी दोनों का स्वरूप भिन्न ही है। शरीर व शरीरी, अर्थात् देह व आत्मा, दोनों भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वरूप में परिणमन कर रहे हैं। शरीर तो वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरूप अपने मूर्तभाव में परिणमता है, और शरीरी-आत्मा अपने ज्ञानदर्शन आनन्दरूप अमूर्तभाव में परिणमता है। इसप्रकार ज्ञानी दोनों के भिन्न स्वरूप को जानता है। अज्ञानी उन दोनों को एकमेक मानकर भ्रम में वर्तता है। कोई ज्ञानी-मुनि उपदेश देते हों, उस वक्त वहाँ पर उपदेश के शब्द तो वर्णादि मूर्तभाव से परिणत हो रहा है व उपदेशक ज्ञानी का ज्ञान (उसका अंतरंग अभिप्राय) अमूर्त आत्मभाव से परिणत हो रहा है; उस अमूर्तज्ञान में मूर्तवाणी का कर्तृत्व नहीं है और वे मूर्त शब्द कर्ता होकर श्रोता के ज्ञान की उत्पत्ति करा दें—ऐसा भी नहीं। श्रोता का आत्मा स्वयं अपने स्वरूप से ही अपने ज्ञानभावरूप परिणमन करता है।

ऐसे स्वाधीन स्वरूप के निर्णय में स्वाश्रित वीतरागभाव होता है, किंतु एक-दूसरे के कारण से एक-दूसरे में कार्य हो, ऐसी पराश्रय बुद्धि में वीतरागभाव नहीं होता, उसमें तो राग-द्वेष ही होता है कि इसने मेरा अहित किया या इसने मेरा हित किया; कर्म ने ज्ञान को रोका व वाणी ने ज्ञान दिया। ऐसी बुद्धि जिसकी हो, उसको कर्म के ऊपर का द्वेष व वाणी के उपकार का राग छूटता नहीं, अर्थात् परालंबन छूटता नहीं और स्वावलंबन होता नहीं। स्वावलंबन के बिना शांति या वीतरागभाव हो नहीं सकता। जिसको स्व-पर के भिन्न स्वरूप का सच्चा निर्णय है, उसको पर के प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से राग-द्वेष (अनंतानुबंधी कषाय) तो होता ही नहीं। मेरे ज्ञान-आनंद के लिये मुझे मेरे स्वरूप का ही अवलंबन है-ऐसी स्वाश्रयबुद्धि से वीतरागभाव होता है; और वही ज्ञानी का मार्ग है।

कोई कहे कि—जीव व पुद्गल का स्वरूप तो भिन्न है, इसलिये वे एक-दूसरे को कुछ न करे—यह तो सही, परंतु जीव तो एक-दूसरे को दुःख-सुख वा ज्ञान देते हैं न? तो कहते हैं कि—नहीं जी! सब जीव ज्ञानस्वरूप हैं, किंतु हरेक जीव का ज्ञान अलग-अलग है। इस जीव का ज्ञान इसके ही पास है और दूसरे जीव का ज्ञान उनके ही पास है; हरेक का स्वरूप अपने-अपने में है। एक जीव का ज्ञान दूसरे जीव में प्रवेश नहीं कर सकता—जिससे कि वह उनको कुछ दें या लें। हरेक जीव स्वयं सामान्य-विशेष स्वरूप है, उनका सामान्य एवं विशेष अपने से ही है, दूसरा कोई इसके सामान्य को या विशेष को कुछ नहीं करता। दो भिन्न तत्त्वों को सचमुच में कारण-कार्यपना नहीं होता। भिन्न तत्त्वों में परस्पर कारण-कार्यपना या कर्ता-कर्मपना मानना—यह विपरीत मान्यता तत्त्व की सर्व भूल का मूल है। जहाँ ऐसी विपरीत मान्यता हो, वहाँ एक भी तत्त्व का सच्चा निर्णय नहीं होता। इसलिये जीव-अजीवतत्त्व के स्वरूप का वास्तविक भेद जानना, यही सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि का कारण है।

सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि के लिये जैन संतों ने जीव-अजीव का भिन्न स्वरूप जैसा है, वैसा दिखाया है, जिसको पहचानने से भेदज्ञान होता है व सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि होती है। अहा! वास्तविक तत्त्व का स्वरूप दिखाकर संतों ने मार्ग की प्रसिद्धि की है, व जगत के ऊपर उपकार किया है।

ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि जीव-अजीव के भेदज्ञान से ही होती है। जीव व अजीव का संयोग होने पर भी, यदि संयोगदृष्टि से न देखा जाये, तो उन दोनों की भिन्नता स्पष्ट मालूम होती है। वस्तु के स्वरूप को जो जीव नहीं पहचानता व अकेले संयोग को ही देखता है, उसको ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि नहीं होती। देख लो... यह सम्यक् मार्ग की प्रसिद्धि की रीति! इस रीति से जीव-अजीव के भिन्नस्वरूप की पहचान करके जो सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि करे, उसको ही नव तत्त्वों का (व निमित्त का, व्यवहार आदि का) यथार्थ ज्ञान होता है।

जितने भी वर्णादि सहित रूपी-पदार्थ हैं, वे सब अजीव ही हैं; शरीर मूर्त है, वह सदैव अजीव ही है—चाहे जीव के संयोग में रहा हो तो भी शरीर तो अचेतन-अजीव ही है। कोई शरीर 'अचेतन' व कोई शरीर 'सचेतन'—ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। सदैव शरीर तो अचेतन ही है, व चेतनमय तो जीव ही है। जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही संबंध को लेकर शरीर को 'सजीव शरीर' कदाचित व्यवहार से कहा हो तो भी उन दोनों के स्वरूप में भेद होने से वे भिन्न ही हैं। भाई!

उपयोगमय आत्मा को अचेतन शरीर के साथ में एकता कहाँ से होय ? व अरूपी चैतन्यमय आत्मा अचेतनरूपी वाणी को कैसे बनावे ? सबका कार्यक्षेत्र अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में ही होता है, बाहर नहीं होता। अरे जीव ! तू चेतन, तेरा गुण चेतन, तेरी पर्यायें चेतन, उनसे बाहर निकलके देह-मन-वाणी आदि कोई भी अजीव में तेरा कार्य या तेरा अस्तित्व नहीं है। ऐसे स्पष्ट भेदज्ञान करके जो निजद्रव्य में लीन होता है, उसको ही मोक्षमार्ग होता है, उसको ही मार्ग को प्रसिद्धि है।

☆☆☆ ☆☆☆

[दो का लक्षण दो... दो का जाननेवाला एक]

जीव व शरीर, ये दो वस्तु के लक्षण दो हैं—जीव का लक्षण चेतन, शरीर का लक्षण मूर्तपना। दो का लक्षण दो हैं किंतु दोनों का जाननहारा एक है। जाननेवाला दो (जीव व अजीव) नहीं। एक जीव ही दोनों के लक्षणों को जानता है। दोनों के भिन्न लक्षणों को जानकर, दोनों का भेदज्ञान करके, एक निजात्मा में लीनता करना, यह तात्पर्य है।

भिन्नता के बिना लीनता नहीं होती; अतएव पर से भिन्नता का जिसको भान नहीं, उसको स्व में लीनता नहीं होती। स्व-पर की भिन्नता को जो नहीं जानता, वह तो देह की चेष्टाओं को अपनी ही मानकर उसमें लीनता से प्रवर्त रहा, व संसार भ्रमण कर रहा है। इनसे छुड़ाने के लिये संतों ने कृपा करके भेदज्ञान के द्वारा सम्यक् मार्ग प्रसिद्ध किया है। अनादि अज्ञान से जीव को भान नहीं कि कौन हूँ मैं ? और क्या है मेरा स्वरूप ? वह अपने को शरीरादिरूप ही मानता है, शरीर की क्रिया को अपनी मानता है। उसको जीव क्या व अजीव क्या—इसका वास्तविक स्वरूप दर्शा के मुक्ति का मार्ग प्राप्त कराने के लिये जड़-चेतन के भिन्न लक्षण की पहचान करायी है।

जिन-भगवान के कहे हुए यह भिन्न लक्षण को जानकर, स्वद्रव्य को एक को ही अवलंबता हुआ जीव भेदविज्ञानी होता है और निजात्मद्रव्य में लीन होकर वीतरागभाव से मोक्षमार्ग साधनकर, परम सुख का भोक्ता होता है। यह है भेदज्ञानरूप सम्यक् मार्ग का फल। यही मुमुक्षु का मार्ग है।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे सुन्दर वीतरागमार्ग की भी जगत में यदि कोई अज्ञानी निंदा करे तो उसे सुनकर, हे मुमुक्षु ! तू जिनमार्ग की भक्ति मत छोड़ना, दृढ़ भक्ति से ऐसे सुंदर मार्ग की उपासना करना।

★

तत्त्वचर्चा

गतांक नंबर २३५ से चालू

छठवें गुणस्थान में मुनि को निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय एक साथ होते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि से सिद्ध भगवान तक के सभी जीवों के निश्चय अपरनाम यथार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, सत्यार्थ-शुद्ध श्रद्धा है। उसके आधार—

(१) श्री पंचास्तिकाय गाथा १०४ श्री जयसेनाचार्य टीका, पृष्ठ १६५ में से—'णिहदमोहो-शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व दर्शनमोहाभावात् तदनंतरं निहतमोहो नष्ट दर्शनमोह:'

अर्थ—'निहदमोह-शुद्धात्मा ही उपादेय है। ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व दर्शनमोह के अभाव से और उसके बाद दर्शनमोह को नष्ट करके मोह निहत हुआ' [यहाँ उपशम-क्षयोपशम और क्षय से उत्पन्न हुआ तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टियों के निश्चय सम्यक्त्व है, ऐसा स्पष्ट कहा है।]

(२) श्री धवल पुस्तक १, पृष्ठ ३९६ सूत्र १४५ की टीका-सम्यक्त्वमार्गणा में से:—

सामान्य से सम्यग्दृष्टि और विशेष की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगी केवली गुणस्थानक तक होते हैं ॥१४५॥

शंका—सम्यक्त्व में रहनेवाला यह सामान्य क्या वस्तु है ?

समाधान—तीनों ही सम्यग्दर्शनों में जो साधारण धर्म है, वह सामान्य शब्द से यहाँ पर विवक्षित है।

शंका—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शन परस्पर भिन्न-भिन्न होने पर सदृश्यता क्या वस्तु हो सकती है ?

समाधान—नहीं क्योंकि, उन तीनों सम्यग्दर्शनों में यथार्थ १ श्रद्धान के प्रति समानता पायी जाती है।

शंका—क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषण से युक्त श्रद्धान में समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान—विशेषणों में भेद भले ही रहा आये, परंतु इसमें यथार्थ १श्रद्धारूप विशेष्य में भेद नहीं पड़ता।

(नोट : १. यथार्थ श्रद्धा=निश्चय श्रद्धा, निश्चय सम्यक्त्व, भूतार्थ सम्यक्त्व)

धवला पुस्तक १, सूत्र १२,पृष्ठ ११३ 'असंयत सम्यग्दृष्टि' की टीका में लिखा है कि—इस सूत्र में जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गंगा नदी के प्रवाह के समान ऊपर के समस्त गुणस्थानों में अनुवृत्ति को प्राप्त होता है। अर्थात् पाँचवें आदि समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन पाया जाता है।

[नोट - १४ गुणस्थान में एक ही निश्चय (यथार्थ) सम्यग्दर्शन पाया जाता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि चतुर्थ गुणस्थान से सब जीवों के निश्चय सम्यग्दर्शन होता ही है।]

धवल पुस्तक ७, सूत्र ६९, उसकी टीका पृष्ठ १०७ में निम्न प्रकार है:—

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक लब्धि से जीव सम्यग्दृष्टि होता है ॥६९॥ दर्शन मोहनीय के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन होता है, और क्षयोपशम से वेदक सम्यक्त्व होता है।

इन तीनों सम्यक्त्वों का जो एकत्व है, उसी का नाम सम्यग्दृष्टि है। चूँकि उस सम्यग्दृष्टि के तीन भाव होते हैं, इसीलिये सम्यग्दृष्टि औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक लब्धि से होता है, ऐसा कहा गया है।

शंका—एक ही सम्यग्दृष्टि के तीन भाव कैसे होते हैं ?

समाधान—जैसे स्पष्ट है सामान्य जिसका, ऐसी एक ही वस्तु में एकसाथ अनेक वर्ण होते हुए भी कोई विरोध नहीं आता। **उसीप्रकार एक ही सम्यग्दर्शन के अनेक परिणाम होने में कोई विरोध नहीं है।** धवला शास्त्र के ये तीन आधारों से सिद्ध होता है कि **श्री सिद्ध भगवान का सम्यग्दर्शन और अविरत सम्यग्दृष्टि का सम्यग्दर्शन** एक ही है, ऐसा श्री वीरसेनस्वामी स्पसष्टतया कहते हैं अर्थात् यदि सिद्ध भगवान निश्चय सम्यग्दर्शन के धारक हैं तो अविरत सम्यग्दृष्टि भी निश्चय सम्यग्दर्शन के धारक हैं। इसकारण श्री अमृतचंद्राचार्य तत्त्वार्थसार, अध्याय २, श्लोक नंबर.... में सम्यग्दृष्टि को 'नोसिद्ध अर्थात् इषत्-अल्प सिद्ध' कहा है। इस धवल सिद्धांत के अनुसार पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ९ में कहते हैं कि..... जैसे-सात तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ के होता है ऐसा ही केवली-सिद्ध भगवान के भी होता है, इस ज्ञानादिक की हीनता-अधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक और केवली-सिद्ध भगवान को सम्यक्त्व गुण तो समान ही कहा है। क्रमश:

भगवान श्री ऋषभदेव के

छठवें भव की एक महान प्रेरणादायक कथा

(गतांक २३५ से चालू)

[इस भरतक्षेत्र के आदि तीर्थंकर-आदि ब्रह्मा श्री ऋषभदेव भगवान के छठवें भव की यह बोधपूर्ण कथा श्री जिनसेनाचार्य कृत महापुराण के आधार से तैयार की है। भगवान श्री ऋषभदेव के पूर्व भव का वृत्तांत:—

	श्री ऋषभदेव	
	भव अपेक्षा अंतिम भव-प्रथम तीर्थंकर उन्हीं का	श्रेयांसकुमार राजा जो अंतिम भव में ऋषभदेव के गणधर होकर मोक्ष गये
१०	वाँ भव महाबल राजा जो स्वयंप्रभ मंत्री के द्वारा सदुपदेश प्राप्त कर २२ दिन के उपवास के अंत में शुभ भावना सहित मृत्यु	१० निर्नामा नामक वणिक की पुत्री
९	वाँ भव ईशान स्वर्ग में ललितांगदेव	९ ईशान स्वर्ग में स्वयंप्रभादेवी
८	वाँ भव वज्रजंघराजा (अंतिम श्रेयांस कुमार का जीव श्रीमती रानी था उनके साथ वह पति पत्नी हुए थे)	८ श्रीमती (चक्रवर्ती की पुत्री)
७	वाँ भव भोगभूमि में आर्य (जहाँ श्री प्रीतिंकर मुनिराज की कृपा से दोनों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था)	७ आर्या (भोगभूमि में पति-पत्नी जो प्रीतिंकर मुनिराज के प्रताप से सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके स्त्री वेद का छेद किया)
६	वाँ भव ईशान स्वर्ग में श्रीधरदेव	६ स्वयंप्रभादेवी (ईशान स्वर्ग में पति-पत्नी)
५	वाँ भव सुविधि राजकुमार	५ केशव (उसी सुविधि राजा के पुत्र)
४	भव अच्युत स्वर्ग (१६वाँ) में इन्द्र	४ प्रतिन्द्र (उसी अच्युत स्वर्ग में)
३	भव वज्रनाभि चक्रवर्ती (जहाँ तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया)	३ धनदेव नामक श्रेष्ठी के पुत्र और उसी वज्रनाभि चक्रवर्ती के यहाँ गृहपति रत्न

२	भव सर्वार्थसिद्धि वैमान अंतिम स्वर्ग में अहमिन्द्र	२	अहमिन्द्र उसी सर्वार्थसिद्धि में
१	अंतिम भव इस चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के बाद सादि अनंत काल तक अक्षय अनंत ज्ञान सुखमय मोक्षदशा को प्राप्त वही आत्मा परमात्मा हुए।	१	श्रेयांसकुमार राजा जो भगवान श्री ऋषभदेव के गणधर होकर मोक्षदशा प्राप्त कर परमात्मा हुए।

धनि धन्य हैं जे जीव नरभव, पाय यह कारज किया।
तिन ही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया॥]

किसी एक दिन श्रीधरदेव को अवधिान से मालूम हुआ कि हमारे गुरु श्रीप्रभु पर्वत पर विराजमान हैं और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ है। संसार के समस्त प्राणियों के साथ प्रीति करनेवाले जो प्रीतिंकर मुनिराज थे, वे ही इसके गुरु थे। उन्हीं की पूजा करने के लिये अच्छी-अच्छी सामग्री लेकर श्रीधरदेव उनके सन्मुख गया। जाते ही उसने श्रीप्रभ पर्वत पर विराजमान विद्यमान सर्वज्ञ प्रीतिंकर महाराज की पूजा की, उन्हें नमस्कार किया, धर्म का स्वरूप सुना और फिर नीचे लिखे अनुसार अपने मन की बात पूछी। हे प्रभो, मेरे महाबल भव में जो मेरे तीन मिथ्यादृष्टि मंत्री थे, वे इस समय कहाँ उत्पन्न हुए हैं? इसप्रकार पूछने पर सर्वज्ञदेव कहने लगे कि हे भव्य, जब तू महाबल का शरीर छोड़कर स्वर्ग चला गया और मैंने रत्नत्रय को प्राप्त कर दीक्षा धारण कर ली, तब खेद है कि वे तीनों ढीठ मंत्री कुमरण से मरकर दुर्गति को प्राप्त हुए थे। उन तीनों में से महामति और संभिन्नमति ये दो तो उस निगोद स्थान को प्राप्त हुए हैं, जहाँ मात्र सघन अज्ञानांधकार का ही अधिकार है तथा शतमति मंत्री अपने मिथ्यात्व के कारण नरकगति गया है। जो जीव मिथ्यात्वरूपी विषय से मूर्छित होकर समीचीन जैन मार्ग का विरोध करते हैं, वे कुयोनिरूपी भँवरों से व्याप्त इस संसाररूपी मार्ग में दीर्घकाल तक घूमते रहते हैं। सम्यग्ज्ञान के विरोधी जीव अवश्य ही नरकरूपी गाढ़ अंधकार में निमग्न होते हैं, इसलिये विद्वान पुरुषों को आप्त प्रणीत सम्यग्ज्ञान का ही निरंतर अभ्यास करना चाहिए।

नरकों में जीवों की उत्पत्ति किस कारण से होती है? यदि तू यह जानना चाहता है तो सुन। जो जीव हिंसा करने में आसक्त रहते हैं, झूठ बोलने में तत्पर होते हैं, चोरी करते हैं, परस्त्री रमण करते हैं, मदिरा पीते हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, क्रूर हैं, रौद्रध्यान में तत्पर हैं, प्राणियों में सदा निर्दय रहते हैं,

बहुत आरम्भ और ममत्व-परिग्रह रखते हैं, सदा धर्म से द्रोह करते हैं, अधर्म में संतोष रखते हैं, (सच्चे) साधुओं की निंदा करते हैं, ईर्षा रखते हैं, धर्म सेवन करनेवाले, परिग्रह रहित मुनियों से बिना कारण ही क्रोध करते हैं, अतिशय पापी हैं, मद्य और माँस खाने में तत्पर हैं, अन्य जीवों की हिंसा करनेवाले कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं को पालते हैं, अतिशय निर्दय हैं, स्वयं मद्य-मांस खाते हैं और उनके खानेवालों की अनुमोदना करते हैं, वे जीव पाप के भार से नरक में प्रवेश करते हैं। और वहाँ विविध प्रकार के प्रतिकूल संयोगों में लक्ष करके अपने मोह और द्वेष के कारण दु:खी होते हैं। ये सब दुराचार के फल हैं। हे देव, वह शतबुद्धि मंत्री का जीव अपने पाप कर्म के उदय से ऊपर कहे अनुसार द्वितीय नरक संबंधी बड़े-बड़े दु:खों को प्राप्त हुआ है। इसलिये जो जीव दु:ख नहीं चाहते, उन बुद्धिमान पुरुषों को इस जिनेन्द्र प्रणीत धर्म की उपासना करनी चाहिये। जैनधर्म (राग-द्वेष-मोहरहित वीतरागभाव) ही जीवों का बंधु है, यही मित्र है और यही गुरु है, इसलिये हे देव! स्वर्ग और मोक्ष के सुख देनेवाले इस जैनधर्म में ही तू अपनी बुद्धि लगा।

उस समय प्रीतिंकर जिनेन्द्र के ऊपर कहे वचन सुनकर पवित्र बुद्धि का धारक श्रीधरदेव अतिशय धर्म प्रेम को प्राप्त हुआ। और दूसरे नरक में जाकर शत बुद्धि को समझाने लगा कि हे भोले मूर्ख शतबुद्धि, क्या तू तुझे महाबल को जानता है? उस भव में अनेक मिथ्यानयों के आश्रय से तेरा मिथ्यात्व बहुत ही प्रबल हो रहा था। देख, उसी मिथ्यात्व का यह दु:ख देनेवाला फल तेरे सामने है। असली रूप में तू सदा अतीन्द्रिय ज्ञानानंदस्वरूप है। ज्ञान और सुख स्वाश्रय से ही सच्चा होता है, पराश्रय से दु:ख होता है।

इसप्रकार श्रीधरदेव के द्वारा समझाये हुए शतबुद्धि के जीव ने शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया और मिथ्यात्वरूपी मैल के नष्ट हो जाने से उत्कृष्ट विशुद्धि प्राप्त की। बाद में शतबुद्धि का जीव आयु के अंत में भयंकर नरक से निकलकर पूर्व पुष्कर द्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में मंगलावती देश के रत्न संचय नगर में महीधर चक्रवर्ती के सुंदरी नामक रानी से जयसेन नाम का पुत्र हुआ। जब उसका विवाह हो रहा था कि उसी समय श्रीधरदेव ने आकर उसे समझाया।

(ऋषभदेव भगवान का पूर्व भव)

जिससे विरक्त होकर उसने यमधर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली। श्रीधरदेव ने उसे नरकों के भयंकर दु:ख की याद दिलाई थी, जिससे वह विषयों से विरक्त होकर कठिन तप करने लगा। आयु के अंत में समाधिपूर्वक प्राण छोड़कर ब्रह्म स्वर्ग में इन्द्र पद को प्राप्त हुआ।

देखो, कहाँ तो नारकी होना और कहाँ इन्द्र पद प्राप्त होना। वास्तव में अपने परिणामों की गति अपने ही उलटे या सुलटे पुरुषार्थ से होती है। इसलिये सुख की आकांक्षा रखनेवालों को सदा धर्म में तत्पर रहना चाहिये। बाद में उस ब्रह्मेन्द्र ने ब्रह्मस्वर्ग से आकर अपने कल्याणकारी मित्र की पूजा की।

वह श्रीधरदेव (ऋषभदेव का पूर्व भव) स्वर्ग से च्युत होकर जंबुद्वीप संबंधी पूर्व विदेहक्षेत्र में महावत्स देश के सुसीमा नगर में सुदृष्टि राजा की सुंदर नंदा नाम की रानी से पवित्र बुद्धि का धारक सुविधि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। कलाओं के भंडार उस बुद्धिमान सुविधि ने बाल्यावस्था में ही सम्यक् धर्म का स्वरूप समझ लिया था। सो ठीक ही है आत्मज्ञानी पुरुषों का चित्त आत्मकल्याण में ही अनुरक्त रहता है। युवान होने पर सुविधि राजकुमार का विवाह चक्रवर्ती की पुत्री मनोरमा के साथ हुआ था। इसप्रकार प्रीति पूर्वक उन दोनों का समय बीत रहा था कि स्वयंप्रभ नाम का देव (श्रीमती का जीव) स्वर्ग से च्युत होकर उन दोनों के केशव नाम का पुत्र हुआ। वज्रजंघ पर्याय में जो इसकी श्रीमती नाम की प्यारी स्त्री थी, वही इस भव में इसका पुत्र हुई। क्या कहा जाये? संसार की स्थिति ही ऐसी है। सिंह, नकुल, वानर और शूकर के जीव जो कि भोगभूमि के बाद दूसरे स्वर्ग में देव हुए थे, वे भी वहाँ से चयकर इसी वत्सकावती देश में सुविधि के समान पुण्याधिकारी होने से उसी के समान विभूति के धारक राजपुत्र हुए।

बाद में किसी दिन वे चारों ही राजा (नकुल, वानर आदि के जीव) चक्रवर्ती अभयघोष के साथ विमलवाहन जिनेन्द्रदेव की वंदना करने के लिये गये। वहाँ सबने भक्तिपूर्वक वंदना की और फिर सभी ने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली। वह चक्रवर्ती अठारह हजार राजाओं और पाँच हजार पुत्रों के साथ दीक्षित हुआ था। वे सब मुनिश्वर उत्कृष्ट संवेग और निर्वेद रूप परिणामों को प्राप्त होकर स्वर्ग और मोक्ष के कारणभूत कठिन तप तपने लगे। धर्म और धर्म के फलों में उत्कृष्ट प्रीति करना संवेग कहलाता है और शरीर भोग तथा संसार से विरक्त होने को निर्वेद कहते हैं। राजा सुविधि पुत्र स्नेह से गृहस्थ अवस्था का त्याग नहीं कर सका था, इसलिये श्रावक के उत्कृष्ट पद में स्थित रहकर कठिन तप तपता था। जिनेन्द्रदेव ने गृहस्थों के नीचे लिखे अनुसार ग्यारह स्थान या प्रतिमायें कहीं हैं [निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना व्रत, तप, सामायिक या ११ प्रतिमा में से एक भी प्रतिमा किसी को भी हो सकती नहीं किंतु उसे बाल व्रत और बाल तप ही कहे हैं। इसलिये प्रथम तो अपूर्व जिज्ञासा से ज्ञानी गुरु का उपदेश और तत्त्व विचार में सावधान होकर

विपरीत अभिप्राय रहिततया ज्ञानस्वरूप आत्मा का निश्चय करना चाहिये अर्थात् हेय (त्यागने योग्य अपनी अशुद्धता) उपादेय (-ग्रहण करने योग्य निज शुद्धात्मतत्त्व और शुद्धता) तत्त्व के भावभासन सहित स्व-पर के भेदविज्ञान; शुद्धात्मा का प्रतिभास, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और रत्नत्रयरूप धर्म की पहिचान सहित जो शुद्धात्म सन्मुख परिणाम की प्राप्ति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करनी चाहिये, बाद में ही स्वद्रव्य के आलंबन के बल से शुद्धि की वृद्धि होती है और दो जाति के कषायों के अभावरूप स्वरूपाचरण चारित्र की प्राप्ति होती है। तब ग्यारह प्रतिमायें यथायोग्य भूमिका में होती हैं।]

प्रतिमा के नाम—(१) दर्शन प्रतिमा (२) व्रत प्रतिमा (३) सामायिक प्रतिमा (४) प्रौषध प्रतिमा (५) सचित्त त्याग प्रतिमा (६) दिवा मैथुन त्याग अथवा रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा (७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा (८) आरम्भ त्याग प्रतिमा (९) परिग्रह त्याग प्रतिमा (१०) अनुमति त्याग प्रतिमा (११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा। इनमें से सुविधि राजा ने क्रम-क्रम से ११ स्थान उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा धारण की थी। [धर्मी जीव को उस समय जितने अंश में स्वाश्रय के बल से परिणामों की शुद्धता होती है, उसका नाम निश्चय व्रतादिक है, जो आंशिक निश्चय रत्नत्रयरूप है जिसके द्वारा संवर-निर्जरारूप धर्म होता है, बंधन नहीं होता और जितने अंश में पराश्रयरूप शुभभावरूप व्यवहार व्रतादिक होता है, उससे पुण्यबंध होता है, ऐसा एक ही समय में उस भूमिका के योग्य सराग-वीतराग अंश को ज्ञानी जीव बराबर जानते ही हैं।] जिनेन्द्रदेव ने गृहस्थाश्रम के उक्त ११ स्थानों में यथायोग्य पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों का निरूपण किया है। स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से निवृत्त होने को क्रम से अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचोर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणुव्रत कहते हैं। यदि उसे सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ धारण किया जावे तो बड़े-बड़े फलों की प्राप्ति होती है। दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्ड विरति ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग और मरण समय में संन्यास धारण करना, ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। गृहस्थों को ये बारह व्रत स्वर्गरूपी राजमहल पर चढ़ने के लिये सीढ़ी के समान हैं।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन से पवित्र व्रतों की शुद्धता को प्राप्त हुए राजर्षि सुविधि चिरकाल तक श्रेष्ठ मोक्षमार्ग की उपासना करते रहे। बाद में जीवन के अंत समय में परिग्रह रहित दिगंबर दीक्षा को प्राप्त हुए सुविधि महाराज ने विधिपूर्वक उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की आराधना कर समाधिमरण पूर्वक

शरीर छोड़ा, जिससे अच्युत स्वर्ग में इंद्र हुए। वहाँ उनकी आयु बाईस सागर प्रमाण थी और उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं। श्रीमती के जीव केशव ने भी समस्त बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह का त्यागकर निर्ग्रंथ दीक्षा धारण की और आयु के अंत में अच्युत स्वर्ग में प्रतिन्द्र पद प्राप्त किया। वरदत्त आदि राजकुमार भी (नकुल, बन्दर आदि के जीव) अपने पुण्य के कारण उसी स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए। वह अच्युत इंद्र स्वर्ग में विविध प्रकार के सुंदर भोग भोगता था। अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न हुए लक्ष्मी का उपभोग करनेवाले उस अच्युतेन्द्र की उत्कृष्ट विभूति का वर्णन करना कठिन था। उस अच्युतेन्द्र का मैथुन मानसिक था और आहार भी मानसिक था। तथा वह बाईस हजार वर्षों में एक बार आहार करता था, ग्यारह महीने में एक बार श्वासोच्छ्वास लेता था और तीन हाथ ऊँचे सुंदर शरीर को धारण करनेवाला था। वह अच्युतेन्द्र धर्म के द्वारा ही उत्तम विभूति को प्राप्त हुआ था; इसलिए उत्तम विभूतियों के अभिलाषी जनों को जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे धर्म में ही पूर्ण उत्साह सहित बुद्धि लगानी चाहिये। स्वर्ग में मनोहर देवांगनाएँ उस अच्युतेन्द्र को बड़ा आनंद प्राप्त करा रही थीं। और वह अच्युतेन्द्र कभी-कभी हाथी पर बैठकर और कभी-कभी बार-बार जिनेन्द्रदेव की पूजा और भक्ति का विस्तार करता हुआ और कभी अपनी देवांगनाओं के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा। किंतु नित्य ज्ञानानंदमय अंतःतत्त्व निज शुद्धात्मा ही मेरे लिये उत्तम-मंगल और सुख की खानि है—सुखदाता है, ऐसी भावना के बल से सर्व विभावों को तुच्छ मानता हुआ, कब मैं वीतरागी निर्ग्रंथ मुनि पद के योग्य बनकर अपने परमात्मपद को प्राप्त कर लूँ इस बात का विस्मरण नहीं करते थे। (क्रमशः)

* स्पष्ट वेदन में आता है कि—आत्मस्वरूप के चिंतन-मनन में शांति है, तथापि जीव अपने उपयोग को उसमें क्यों नहीं लगाता ?

* हे जीव! अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित करने के लिये अपने उपयोग को निजस्वरूप में लगा..... और पर का संबंध तोड़ दे।

अद्‌भुत चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति हुई....

फिर किसका भय ?

श्रीगुरु के प्रसाद से अपने चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति होने से धर्मात्मा तीन लोक में निर्भय और निष्कांक्ष है; सुरेन्द्र, नरेन्द्र या नागेन्द्र किसी का भय उसे नहीं रहता। श्री पद्मनंदिस्वामी सद्‌बोध चन्द्रोदय अधिकार में कहते हैं कि:—

त्रैलोक्ये किमिहास्ति कोपि स सुरः किंवा नरः किं फणी
यस्माद्भीर्मम यामि कातरतया यस्याश्रयं चापदि।
उक्तं यत्परमेश्वरेण गुरुणा निश्शेषवांछाभय-
भ्रांतिक्लेशहरं हृदि स्फुरति चेत्‌चित्तत्त्वमत्यद्‌भुतम्॥४९॥

श्री परमेश्वर गुरु द्वारा कहा गया चैतन्य तत्त्व—जो कि समस्त प्रकार की अभिलाषा, भय, भ्रम तथा दु:खों को दूर करनेवाला है तथा अत्यंत अद्‌भुत—आश्चर्यकारी है, वह चैतन्यतत्त्व यदि मेरे हृदय में स्फुरायमान है—विद्यमान है तो तीन लोक में ऐसा कोई देव, मनुष्य या नाग नहीं है कि जिससे मैं डरूँ और आपत्ति से भयभीत होकर किसी की शरण में जाऊँ! मेरा चैतन्यतत्त्व निर्भय है, उसी का मुझे आश्रय है।

नया प्रकाशन

श्री समयसार कलश टीका

(पंडित श्री राजमल्लजी कृत)

हस्तलिखित प्रतियों से बराबर मिलान करके आधुनिक राष्ट्रभाषा में, सुंदर ढंग से, बड़े टाइप में उत्तम प्रकाशन:—

आत्महित का जिसको प्रयोजन हो उनके लिये गूढ़ तत्त्वज्ञान के मर्म को अत्यंत स्पष्टतया खोलकर स्वानुभूतिमय उपाय को बतानेवाला यह ग्रंथ अनुपम ज्ञान निधि है। पंडित श्री राजमलजी (विक्रम संवत् १६१५) पूर्वाचार्यों के कथनानुसार आध्यात्मिक पवित्र विद्या के चमत्कारमय यह टीका बनाई है। लागत मूल्य ५) होने पर घटाया हुआ मूल्य २) पोस्टेज १.४५

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी) समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं, प्रवचन में सवेरे परमात्मप्रकाश तथा दोपहर में समयसारजी शास्त्र में से ४७ शक्तियों पर प्रवचन चलते हैं। पोष वदी ८ श्री कुन्दकुन्दाचार्य की आचार्य पदवी उत्सव मनाया गया था। राजकोट (सौराष्ट्र) में समवसरण जिनमंदिर तथा मानस्तम्भ बन रहा है।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।